दिनकर के काव्य में सामाजिक चेतना और लोकतांत्रिक मूल्य

SOCIAL CONCIOUSNESS AND DEMOCRATIC VALUES IN POETRY OF DINAKAR

पी एच. डी. उपाधि के लिये प्रस्तुत शोध प्रबंध

शोध-निर्देशक

डॉ. ओमप्रकाश सिंह

शोधकर्ता

कविता नन्दन

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110067

2017

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
New Delhi-110067, INDIA

Dated : 14/07 / 2017

DECLARATION

I hereby declare that the research work done in this PhD thesis entitled - **"DINAKAR KE KAVYA MEIN SAMAJIK CHETNA AUR LOKTANTRIK MULYA" ["SOCIAL CONCIOUSNESS AND DEMOCRATIC VALUES IN POETRY OF DINAKAR"]** by me is an original research work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

KAVITA NANDAN
(Research Scholar)

DR. OM PRAKASH SINGH
(Supervisor)
Centre of Indian Languages,
School of Language, Literature
and Culture Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

PROF. GOVIND PRASAD
(Chairperson)
Centre of Indian Languages,
School of Language, Literature
and Culture Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

GRAM: JAYENU, TEL.: (91-011) 26107676, 26167557 Extn.: 2217, Fax: (91-011) 26165886, 26106025

विषय सूची

भूमिका **i-vi**

अध्याय एक **1-33**

दिनकर का युग और उनका काव्य

दिनकर और उनका युग

दिनकर के काव्य की प्रेरक पृष्ठभूमि

दिनकर की काव्य-यात्रा

अध्याय दो **34-83**

दिनकर के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक चेतना

परम्परा बनाम आधुनिकता

व्यक्ति और समाज

धर्म और साम्प्रदायिकता

सामाजिक न्याय का प्रश्न और जातिवाद

लैंगिक समानता और स्त्री प्रश्न

अध्याय तीन **84-119**

दिनकर के काव्य में वर्गीय चेतना

आर्थिक विषमता की पृष्ठभूमि

आर्थिक असमानता और उच्चवर्ग

मध्यवर्ग की बदलती भूमिका

किसान, मजदूर और निम्नवर्ग

अध्याय चार **120-149**

दिनकर के काव्य में राष्ट्रवादी स्वर

उपनिवेशवाद का विरोध

राष्ट्रीय एकता की चुनौतियां

राष्ट्रीय गौरव की भावना

क्रांति और स्वतंत्रता : चुनाव का प्रश्न

दिनकर का राष्ट्रवाद

अध्याय पांच **150-195**

दिनकर के काव्य में अभिव्यक्त लोकतांत्रिक मूल्य

लोकतंत्र और भारतीय लोकतंत्र

लोकतंत्र का स्वप्न और दिनकर

लोकतंत्र का यथार्थ और दिनकर

लोकतंत्र, राष्ट्रवाद और हिंसा का प्रश्न

उपसंहार **196-201**

ग्रंथ सूची

भूमिका

भूमिका

यह भूमिका एक स्वीकारोक्ति की तरह है! दिनकर मेरे प्रिय कवि रहे हैं यह कहना शायद उचित नहीं होगा बल्कि कहना चाहिए कि दिनकर के प्रति मेरे मन में हमेशा एक श्रद्धा भाव मौजूद रहा है। 'योद्धा कवि' की उनकी छवि मुझे हमेशा मुग्ध करती रही है लेकिन कुछ खास वजहों से इस शोध में मैंने अपनी श्रद्धा भावना को बलपूर्वक किनारे रखा है। प्रेमचंद और दिनकर जैसे लेखकों की रचनाओं से बच्चे उसी उम्र में परिचित हो जाते हैं जब उन्हें लेखक के नाम का न तो पता होता है और न कोई फिक्र। दिनकर के साथ मेरा पहला परिचय भी ऐसा ही है। उनकी 'चांद का कुर्ता' शीर्षक कविता मैंने तीसरी कक्षा में पढ़ी थी। ठंड से ठिठुरते और ऊन के एक मोटे झिंगोले के लिए तरसते चांद की पीड़ा आज तक मन पर अमिट है। तब मैं नहीं जान सका था कि यह पीड़ा चांद की नहीं बल्कि सर्दी से ठिठुरते देश के करोड़ों गरीब बच्चों की थी। यह अजीब इत्तेफाक है कि दिनकर के योद्धा रूप पर मुग्ध होने के बहुत दिनों बाद मैं जान सका कि वह कविता दिनकर की थी लेकिन एक आश्चर्य मिश्रित खुशी होने के अलावा इस जानकारी का कोई और फर्क तब नहीं पड़ा था; लेकिन आज लगता है कि फर्क पड़ना चाहिए था।

समय बीतने के साथ पारिवारिक परिवेश और साहित्यिक अभिरुचि के कारण दिनकर के साथ लगाव बढ़ता गया और वह समय भी आया जब जेएनयू में शोध करने का मौका मिला। दिनकर की योद्धा छवि के प्रति आकर्षण का स्वाभाविक परिणाम था कि मैंने दिनकर के राष्ट्रवाद को अपने एम.फिल. शोध का विषय बनाया। लेकिन इस शोध ने बहुत कुछ बदल दिया। दिनकर की राष्ट्रीय मिजाज की कविताओं को करीब से देखने के दौरान मैंने महसूस किया कि दिनकर की योद्धा छवि असल में एक प्रोजेक्टेड छवि है, कुछ चुनिंदा कविताओं के बार-बार दोहराव और दिनकर के इसी पहलू पर आलोचकों द्वारा लगातार चर्चा ने दिनकर की इस छवि को निर्मित किया है। अन्यथा राष्ट्रवाद के दायरे के बाहर विश्व शांति का जोरदार समर्थन भी दिनकर के काव्य का ही एक पहलू है। आगे चलकर धीरे-धीरे यह बात मन में और गहराई के साथ बैठने लगी कि दिनकर का एक मानवीय पहलू भी है, उनका एक लोकतांत्रिक रूप भी है। योद्धा कवि की छवि उनका पूरा सच नहीं है, उनका एक सच वह भी

है जो 'चांद का कुर्ता' सरीखी न जाने कितनी संवेदनशील कविताओं में निहित है। दिनकर के काव्य में लोकतांत्रिक मूल्यों की तलाश इसी प्रक्रिया का नतीजा है।

दिनकर हिंदी के सर्वाधिक चर्चित और प्रशंसित कवियों में से एक हैं। उन्हें साहित्य अकादमी और ज्ञानपीठ जैसे सर्वोच्च साहित्यिक पुरस्कार मिले, संसद सदस्यता मिली और सबसे बढ़कर राष्ट्रकवि का गौरवपूर्ण पद मिला। हिंदी की दुनिया में किसी कवि को इससे अधिक और क्या मिल सकता है? लेकिन इस चर्चा, प्रशंसा और गौरव के बीच दिनकर शायद हिंदी के सबसे ज्यादा दुर्भाग्यग्रस्त लेखकों में भी एक हैं। उन्हें संपूर्णता में समझने की कोशिशें न के बराबर हुईं। जहां कुछ विद्वान दिनकर के सामाजिक सरोकारों को एक किनारे रखकर सिर्फ उनकी श्रृंगारिकता पर ही मोहित दिखाई देते हैं वहीं विद्वानों का एक तबका इसे दिनकर के एक अक्षम्य पाप की तरह देखता है, जिस पर पर्दा डाल दिया जाना ही श्रेयस्कर है। दिनकर के आलोचकों ने उनकी एकांगी आलोचना की है यह बात दुखद है लेकिन जो बात सबसे ज्यादा दुखदाई है वह यह कि घनघोर तारीफ करने वाले उनके प्रशंसकों ने उनके साथ सबसे ज्यादा अन्याय किया है। उन्होंने अपने हिसाब से दिनकर की एक 'पॉलिटिकली करेक्ट' छवि बनाने के चक्कर में उन्हें अपने मनचाहे रंग में रंग डाला है। यह कोई संयोग नहीं है कि दिनकर के अंतिम कविता-संग्रह 'हारे को हरिनाम' की कविताओं की चर्चा उनके प्रशंसक बिल्कुल नहीं करते। दिनकर के वैविध्य और अंतर्विरोधों को छिपाकर भक्त-भाव से की जाने वाली यह प्रशंसा बड़ी छिछली प्रतीत होती है क्योंकि उन्हें यह एहसास भी नहीं है कि अपनी सोच के सांचे में दिनकर को फिट बैठाने की प्रक्रिया में उन्होंने दिनकर का कद कितना छोटा कर दिया है। मुझे यकीन है कि केवल वही आलोचना दिनकर के साथ न्याय कर सकेगी जो उनके प्रशंसनीय घोषित कर दिए गए आयामों के परे जाकर उनके वैविध्य और अंतर्विरोधों को भी उद्घाटित करने का प्रयास करेगी। इस शोध में अपने श्रद्धाभाव को बलपूर्वक किनारे रख देने का एक कारण यह भी है। मैंने प्रबंध में सिर्फ वही कहने का प्रयास किया है जिसका प्रमाण उनकी कविताएं देती हैं।

मैं स्वीकार करना चाहूंगा कि शोध प्रबंध में कुछ कमियां रह गई हैं। मैंने स्त्री प्रश्न और लोकतांत्रिक मूल्यों के लिहाज से तो दिनकर की कविताओं का विश्लेषण किया, लेकिन उनके श्रृंगार पक्ष पर चर्चा नहीं कर सका जबकि दिनकर को संपूर्णता में समझने के लिए यह

बेहद जरूरी है। दिनकर की कविताओं में जहां उनका संवेदनात्मक पहलू बहुत प्रभावशाली ढंग से व्यक्त हुआ है वहीं उनके वैचारिक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति उनके गद्य लेखन में हुई है। इस लिहाज से शोध प्रबंध का विषय काव्य तक सीमित रहना भी एक बड़ी समस्या है। सच तो यह है कि काव्य के क्षेत्र में जो बहुत सारे सवाल अनसुलझे रह जाते हैं, अगर दिनकर के गद्य के साथ मिला कर देखा जाए तो उनके जवाब आसानी से मिल जाते हैं। बड़ी बात यह है कि दिनकर के काव्य में जो अंतर्विरोध नजर आते हैं, वे उनके गद्य में बिल्कुल नहीं है। जहां कहीं कोई ऐसा प्रसंग मुझे दिखा है, मैंने यथासंभव उनके गद्य से भी मदद लेने की कोशिश की है लेकिन जब तक उनके गद्य और पद्य को एक साथ लेकर संपूर्णता में अध्ययन नहीं किया जाएगा कोई भी अध्ययन अधूरा रहने को अभिशप्त होगा।

दिनकर के अध्ययन के प्रसंग में एक समस्या यह भी दिखी है कि अधिकांश शोधार्थी और आलोचक उनकी कविताओं के विचारधारात्मक पहलू तक सीमित रहे हैं। कुछ अन्य शोधार्थियों ने दिनकर के शिल्प-विधान और भाषा का अध्ययन किया है लेकिन दिनकर काव्य की संवेदनशीलता का विश्लेषण इन दोनों ही अध्ययनों में अनुपस्थित है। कविता केवल विचारधारा नहीं है और न ही वह केवल भाषा और छंद का एक प्रयोग भर है। अंततः जो चीज काव्य को महत्वपूर्ण बनाती है वह उसमे निहित संवेदनशीलता ही होती है। अपने अध्ययन में मुझे भी इस संवेदनशीलता का विश्लेषण करने का अवकाश नहीं मिल सका है। लेकिन दिनकर के अंतर्विरोधों को समझने के प्रसंग में संयोगवश मेरा ध्यान उनकी शैली की भूमिका पर गया और संक्षिप्त ही सही, उसकी कुछ चर्चा प्रबंध के अंतिम उप-अध्याय में आ गई है। मेरा विश्वास है कि दिनकर की शैली को ठीक से समझे बिना हम उनके कथ्य को भी सही अर्थ में ग्रहण नहीं कर पाएंगे।

पारिवारिक विवशताओं और दायित्वों के चलते इस शोध प्रबंध का कार्य बीच में लंबे समय के लिए स्थगित रहा है। इस बीच दिनकर को और गहराई से समझने का अवसर मिला नतीजतन दोबारा कार्य करने की प्रक्रिया में कई अंशो का पुनर्लेखन करना पड़ा है। अपनी दृष्टि में मैंने आद्यांत सुसंगति बनाए रखने की कोशिश की है लेकिन हो सकता है कि कुछ असंगतियां रह गई हों। शोध प्रबंध के कुछ हिस्से ऐसे हैं जिन पर शोधार्थियों और आलोचकों ने पहले ही पर्याप्त चर्चा की है; उसमें कुछ ज्यादा जोड़ने की जरूरत मुझे नहीं महसूस हुई

ऐसी जगहों पर मैंने संक्षेपण से काम लिया है, वहीं शोध के कुछ हिस्से ऐसे रहे हैं जिन पर विस्तृत चर्चा करना मुझे जरुरी लगा। दिनकर के काव्य में दलित प्रश्न, स्त्री प्रश्न, राष्ट्रवाद तथा लोकतंत्र के स्वप्न और यथार्थ से संबंधित उप-अध्यायों में मैंने प्रचलित धारणाओं से परे जाकर कुछ नए निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया है।

शोध-प्रबंध के विषय को देखते हुए मैंने कुछ आलोचना ग्रंथों और शोधकार्यों को अपने लिए विशेष महत्व का पाया है। मन्मथनाथ गुप्त की पुस्तक 'रामधारी सिंह दिनकर' और 'अपने समय का सूर्य दिनकर' कवि के व्यक्तित्व और कृतित्व को समझने की दिशा देती है, लेकिन उनकी पुस्तक में सर्वत्र व्याप्त अतिरंजनाओं से सावधान रहने की जरूरत है। गोपालकृष्ण कौल की 'दिनकर : सृष्टि और दृष्टि' दिनकर के दृष्टिकोण को समझने में सहायक है। सावित्री सिन्हा की 'युगचारण दिनकर' ने आरम्भ में मुझे बहुत प्रभावित किया था, हालांकि कुछ स्थलों पर उनसे मेरी गंभीर असहमतियां रही हैं। डॉ. गोपाल राय एवं डॉ. सकलदेव शर्मा द्वारा संपादित 'राष्ट्रकवि दिनकर' संपूर्ण दिनकर-साहित्य की समीक्षा का प्रयास है। डॉ. पी. आदेश्वरराव का 'दिनकर वैचारिक क्रांति के परिवेश में' दिनकर के वैचारिक पक्ष के मूल्यांकन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

शोध-निर्देशक के रूप में डॉ. ओमप्रकाश सिंह का चुनाव मेरे लिए सौभाग्य सिद्ध हुआ। पारिवारिक विवशता के चलते मेरा शोध कार्य स्थगित हो गया था। अगर यह शोध प्रबंध पूरा हो सका तो यह उनके स्नेह और सहयोग का ही फल है। अपनी अस्वस्थता के बावजूद जरूरत पड़ने पर उन्होंने न केवल मुझे हमेशा समय दिया, बल्कि शोध की चिंताओं से आश्वस्त भी रखा। उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त कर पाना शब्दों की सामर्थ्य के बाहर है।

शोधकार्य के लिए उपयोगी सामग्री उपलब्ध कराने के मैं लिए देलही पब्लिक लाइब्रेरी सरोजनी नगर, त्रिमुर्ति लाइब्रेरी, साहित्य अकादमी के अलावा आजमगढ़, इलाहाबाद और बनारस के विभिन्न पुस्तकालयों का आभारी हूं। कुछ अनुपलब्ध सामग्री दिनकर जी के छोटे पुत्र केदारनाथ सिंह और उनके पौत्र अरविंद सिंह के सहयोग से प्राप्त हुई। दुर्लभ हो चुकी पुस्तकों को उपलब्ध कराने में डॉ. गोपाल राय और डॉ. शंभू नाथ जी की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। डॉ. शंभू नाथ जी ने फोटो स्टेट कराने और उसे डाक से भेजने के लिए जो श्रम किया और जो आत्मीयता प्रदर्शित की उसके लिए धन्यवाद शब्द छोटा है। खगेन्द्र ठाकुर और

रमारानी सिंह से दिनकर के व्यक्तित्व और कृतित्व संबंधी ऐसे कितने ही संदर्भ ज्ञात हुए जो कभी पुस्तकों में नहीं मिल सकते थे। दिनकर की कविताओं पर प्रभाकर श्रोत्रिय से हुई विस्तृत चर्चाओं से मैं लाभान्वित हुआ हूं। गोपालदास 'नीरज' ने अपनी व्यस्तताओं के बावजूद समय देकर दिनकर संबंधी संवेदनशील संस्मरणों से मेरा ज्ञानवर्द्धन किया और पद्मा सचदेवा ने अपेक्षा से अधिक सहयोग किया। मैं इन सभी का आभारी हूं। शोध प्रबंध के दलित प्रश्न से संबंधित अंश को बजरंग बिहारी तिवारी ने अपनी टिप्पणी के साथ 'जाति प्रश्न के आइने में राष्ट्रकवि दिनकर' शीर्षक से कथादेश में प्रकाशित किया। इस उत्साहवर्द्धन के लिए उनका आभार।

जेएनयू में डॉ. मैनेजर पाण्डेय, डॉ. गंगा प्रसाद विमल, डॉ. वीर भारत तलवार, डॉ. पुरुषोत्तम अग्रवाल, डॉ. ओमप्रकाश सिंह के शिक्षण और सान्निध्य का लाभ मेरे लिए सुयोग ही था। डॉ. वीर भारत तलवार के निर्देशन में एम.फिल. करते हुए मैंने जो कुछ सीखा उसका भरपूर उपयोग पी एच.डी. का शोध करते हुए भी किया।

आरम्भिक दिनों में पुस्तकें एकत्र करने में शोभा गुप्ता ने जो अपार श्रम किया उसके लिए वह धन्यवाद की पात्र हैं। मित्रों में प्रमोद तिवारी, विवेकानन्द उपाध्याय, भारत भूषण, अरविंद अवस्थी, कुंदन, अभिषेक रौशन और नीरज ने हमेशा मेरा उत्साह बढ़ाया। शोध प्रबंध के अंतिम दौर में कवितेन्द्र इन्दु, के. एन. सूर्य और सुखजीत की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण रही।

अंतिम बात मेरे अपनों की। कविता में कहना-सुनना मेरे लिए सहज होता है और मैंने हमेशा यही महसूस भी किया कि पीड़ा अपनी अभिव्यक्ति में कोई कविता हो जाती है जबकि कविता पीड़ा को जन्म नहीं देती बल्कि उससे मुक्ति दिलाने में भूमिका निभाती है। मम्मी-पापा चाहते थे कि मैं जेएनयू से पीएच.डी. करूं। देर तो हुई लेकिन इस देरी का कारण स्वयं मैं ही हूं। मेरी दूरी उन्हें सताती रही फिर भी इस काम को पूरा करने के लिए कष्ट सहकर भी उन्होंने मेरा सहयोग किया। मेरे शैक्षिक जीवन के इस अध्याय को पूरा करने के लिए मम्मी-पापा को पूरे सैंतालीस वर्षों का इंतजार करना पड़ा। मेरे माता-पिता सामान्य अभिभावकों की तरह नहीं हैं, उनका सपना है कि मानवता को सुखी बनाने में वे अपना योग दे सकें। हर एक की अपनी सीमा है। उस सीमा के पार जाने का एक ही रास्ता है कि अपने

सपनों के बीज इस धरती में बो दें। स्कूल से लेकर जेएनयू तक मेरा नाम पूछकर लोग हैरान होते रहे। कविता मेरी मम्मी हैं और नन्दन मेरे पापा। संतान अपने माता-पिता का योग होती है, यह मुझे याद रहे इसीलिए उन्होंने मेरा नाम कविता नन्दन रखा। मैं उनके सपनों का योग हूं। इस दुनिया को और बेहतर बनाने की उम्मीद में दोनों ने मुझे जन्म दिया। भाग्यवादी न होते हुए भी यही कहूंगा कि मैं भाग्यशाली हूं कि मुझे ऐसे माता-पिता मिले। कोशिश करुंगा कि उनके सपनों को साकार कर सकूं। बहन और भाईयों ने मिलकर मुझे हमेशा टूटने से बचाए रखा। नेहा का मुस्कुराना हमेशा याद दिलाता रहा कि मैं देर कर रहा हूं। शिमला का सहयोग मैं कैसे भूल सकता हूं? मेरे सपनों को साकार करने में सभी का योग अपेक्षित है। हमारी यही परंपरा है। इन सबका धन्यवाद करके ऋणमुक्त होने की बात मेरे लिए अपराध होगी।

अध्याय एक

दिनकर का युग और उनका काव्य

दिनकर और उनका युग

दिनकर के काव्य की प्रेरक पृष्ठभूमि

दिनकर की काव्य-यात्रा

दिनकर और उनका युग

किसी अन्य महत्वपूर्ण व्यक्ति की तरह दिनकर भी अपने युग की रचना थे और उसके रचयिता भी। उनका जीवन और व्यक्तित्व सीधा-सरल और सपाट नहीं था, उसमें उतार-चढ़ाव भी हैं और अंतर्विरोध भी। इस वैविध्यपूर्ण व्यक्तित्व की रचना में उस सामाजिक-राजनैतिक परिवेश की बड़ी भूमिका थी जिसमें दिनकर पले-बढ़े। अनुसंधानकर्ताओं और दिनकर प्रेमियों ने दिनकर के जीवन पर विस्तारपूर्वक लिखा है। यहां वह सबकुछ दुहराया जाना उपयोगी नहीं होगा। यहां संक्षेप में केवल उन पहलुओं की चर्चा की जाएगी जिन्होंने उनके लेखकीय जीवन की दिशा तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

दिनकर का जन्म 23 सितंबर 1908 ई. को बिहार के मुंगेर (वर्तमान बेगूसराय जिला) जिला, सिमरिया ग्राम में हुआ था। इनके पिता बाबू रवि सिंह निम्न-मध्यवर्गीय किसान थे। माता का नाम था श्रीमती मनरूप देवी। परिवार साक्षर था, बाबू रवि सिंह के पिता भी पढ़ना-लिखना जानते थे। इनकी वंश परंपरा में कई पुश्त पहले भैरव राय नाम के कवि रहे जिन्होने 'नगर विलाप' नाम से हस्तलिखित पुस्तक तैयार की थी जो बाबू रवि सिंह के समय तक थी। सिमरिया से थोड़ी ही दूर पर बाजितपुर है, जहां विद्यापति ने शरीर छोड़ा।[1] न केवल दिनकर के परिवार में शिक्षा की परम्परा मौजूद थी, बल्कि उनके पारिवारिक-सांस्कृतिक माहौल में काव्यत्व की संभावनाएं भी मौजूद थीं।

दिनकर मात्र दो ही वर्ष के थे, जब उनके पिता का देहांत हुआ। इस असामयिक मृत्यु से दिनकर समेत चार बच्चों का बोझ पूरी तरह मां पर आ गया। परिवार में कोई भी अन्य सदस्य कमाने वाला नहीं था, आजीविका का स्रोत कृषि छोड़ दूसरा कुछ भी नही था। जमीन तो पर्याप्त थी, लेकिन गंगा के किनारे होने के चलते अक्सर कटाव और बाढ़ का नुकसान उठाना पड़ता था। अकाल पड़ना आम बात थी, दिनकर ने बचपन में उसका प्रत्यक्ष अनुभव भी किया।[2] जिन आर्थिक संकटों से परिवार, पास-पड़ोस और गांव जूझ रहा था, उसका उनके बाल-मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उनकी कविताओं में अकालग्रस्त भूखे और सूखे जो पात्र आते हैं, वह कोई कल्पना नहीं उनका आंखों देखा सच था। प्राकृतिक आपदाएं, ब्रिटिश साम्राज्यवादी कुचक्र और प्रथम विश्व-युद्ध के परिवेश में जैसी परिस्थितियों का सामना करना

पड़ा, उसका अनुमान लगा पाना कठिन है। किंतु दिनकर के व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया में इस ऐतिहासिक परिवेश की भूमिका महत्वपूर्ण है।

दिनकर ने जिस ग्रामीण परिवेश में होश संभाला वह ''साधारण किसानों और खेतिहर मजदूरों का समाज था। तब का वह समाज घोर अशिक्षा तथा अंधविश्वास के दौर से गुजर रहा था, जहां एकाध कायस्थ परिवार और दो-चार पुरोहित परिवारों को छोड़कर इक्के-दुक्के लोग ही साक्षर थे।''[3] अंधविश्वास और अशिक्षा से भरे इस वातावरण में दिनकर का बचपन बीता। पट्टीदारी में रिश्ते के एक बड़े भाई अभिभावक बनकर परिवार और खेती की देख-रेख कर रहे थे। कुछ वर्षों तक यह व्यवस्था चलती रही, लेकिन जल्दी ही मां ने भी अनुभव किया कि अपेक्षा के अनुरूप उपज घर में नहीं आ रही है इसलिए घर के ही किसी सदस्य को खेती का काम देखना होगा।[4] बड़े भाई ने यह जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली।

> दिनकर जी मेधावी छात्र थे। पढ़ने-लिखने में रुचि भी थी। सुंदर, सुकुमार थे, सो अलग। बड़े भाई बसन्त सिंह ने सोचा 'नुनू' (दिनकर जी) तो लिख-पढ़कर हाकिम बनने के लिए ही पैदा हुआ है। ऐसा सुंदर सुकुमार व्यक्ति खेत की धूप-वर्षा झेल नहीं पाएगा। जब खेती मुझे ही करनी है तो आगे पढ़कर क्या करूंगा? बाबू बसन्त सिंह ने पंद्रह साल की आयु में अपनी पढ़ाई बंद कर दी और खेत की जुताई बुआई का काम संभाल लिया। घर के भीतर का कामकाज मां देख ही रही थीं। गृहस्थी चल पड़ी और चल पड़ा दिनकर जी का पठन-पाठन।[5]

छोटे भाई सत्यनारायण सिंह ने भी मिडिल स्कूल के बाद पढ़ाई छोड़ दी।[6] यही वह घटनाक्रम है जिसने दिनकर के मन-मस्तिष्क पर जीवन भर के लिए ऐसी अमिट छाप छोड़ी कि वह अपने संघर्ष और अवसाद के दिनों में भी परिवार से विमुख न हो सके। पारिवारिक सौहार्द्र और उत्सर्ग की इस भावना ने दिनकर को संघर्षशील तो बनाया ही, उनके जीवन को संघर्षपूर्ण भी बना दिया।

अपनी पीढ़ी के तमाम गरीब-ग्रामीण विद्यार्थियों की तरह दिनकर के लिए भी शिक्षा प्राप्ति का रास्ता चुनौतियों से भरा हुआ था। दिनकर आरम्भ से ही लगनशील विद्यार्थी थे और न सिर्फ गणित जैसे मुश्किल समझे वाले विषय में उन्होंने महारत हासिल कर ली[7] बल्कि स्कूल और सूबे के हिन्दी में सर्वाधिक अंक पाने वाले विद्यार्थी के रूप में पुरस्कृत भी हुए।[8] गहन अध्ययन का यह संस्कार परवर्ती जीवन में और विकसित हुआ। लेकिन दिनकर कोरे

पढ़ाकू विद्यार्थी ही नहीं थे। शरीर सौष्ठव में भी उनकी गहरी दिलचस्पी थी। किशोरावस्था में ही व्यायाम की आदत लगी।[9] इसने दिनकर को केवल स्वास्थ्य ही नहीं दिया, बल्कि बल के प्रति आराधना का जो भाव उनकी रचनाओं में बार-बार झलकता है, वह भी संभवतः इसी की देन था। बढ़ती शिक्षा के साथ-साथ घर से स्कूल की दूरी भी बढ़ी और मुश्किलें भी। बीच में पड़ने वाली गंगा नदी की कहानी तो और दिलचस्प थी। जब स्टीमर पकड़ने के लिए रात में ही बोरिया-बिस्तर लेकर घाट पर डंट जाना पड़ता था और कभी-कभी माल जहाज के तट पर न लगा सकने के कारण किसी तैराक साथी के कंधों पर सवारी करनी पड़ती थी।[10]

आरम्भ में ही उल्लेख कर दिया गया है कि दिनकर के पारिवारिक-सांस्कृतिक वातावरण में काव्य के प्रति आकर्षण की संभावनाएं मौजूद थीं। बचपन में दिनकर को रामचरित मानस का पाठ करने की आदत लगी और किशोरावस्था आते-आते उन्होंने गीता-महाभारत के संस्कृत पाठ पर अधिकार जमा लिया।[11] किशोरावस्था में ही दिनकर ने कविताएं लिखनी शुरू कर दी थीं। स्वाभाविक था कि उनका झुकाव हिन्दी साहित्य की ओर होता। कहते हैं कि वे हिन्दी विषय से बी.ए. करना चाहते थे, लेकिन प्रधानाचार्य की अनुमति न मिलने के कारण उन्होंने अंततः इतिहास विषय से स्नातक की उपाधि हासिल की।[12] इसी दौरान वे प्रसिद्ध इतिहासकार काशीप्रसाद जायसवाल के संपर्क में आए जिन्होंने दिनकर के इतिहासबोध को आकार देने में बड़ी भूमिका निभाई।

अध्ययन की रुचि के कारण आगे पढ़ाई जारी रखने की उत्कट अभिलाषा के बाद भी उन्हे बी.ए. के बाद पढ़ाई छोड़नी पड़ी। खेती से इतनी आमदनी नहीं हो पाती थी कि परिवार की आर्थिक स्थिति सामान्य हो पाती। परिवार का बढ़ता बोझ नैतिक रूप से उन्हें बाध्य कर रहा था। पारिवारिक संकट की तत्कालीन परिस्थितियों से उत्पन्न मानसिक तनाव और विक्षोभ सुलोचना रांगेय राघव से भेंटवार्ता में अभिव्यक्त हुआ है ''मुझे अध्ययन में बहुत रुचि थी, मैं आगे पढ़ना चाह रहा था। धन का अभाव भी था।..... मेरे पर पूरे परिवार का उत्तरदायित्व था - मेरा अपना परिवार और भाई का परिवार।''[13] जिस परिवार ने पाल-पोस कर उन्हें यहां तक पहुंचाया था उसके प्रति उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के लिए जीवन भर यज्ञ-कुण्ड में आहुति देने की बारी अब उनकी थी।

उस दौर में बी.ए. की उपाधि एक बड़ी उपलब्धि थी। कोई बड़ा पद पाने के लिए यह पर्याप्त योग्यता थी। लेकिन यह प्रतियोगी परीक्षाओं का नहीं, बल्कि भाई-भतीजावाद और सिफारिशों-पैरवियों का जमाना था। दिनकर इस वस्तुस्थिति से अवगत थे। पैरवी के लिए उन्होंने सर गणेशदत्त से प्रार्थना की जो बिहार के मुख्यमंत्री होने के साथ-साथ उनके 'जात भाई' भी थे, लेकिन उन्हें 'टका सा जवाब' पाकर निराश लौटना पड़ा। 'जात-पांत' के प्रति दिनकर के लगाव को इससे गहरा झटका लगा। दिनकर के प्रशंसक इसे दिनकर के साथ हुए एक अन्याय की तरह देखते हैं।[14] खुद दिनकर को इस बात का दुख आजीवन सालता रहा कि किसी ने उनके साथ सहयोग नहीं किया, लेकिन असल में जात-पांत से उनके मोहभंग ने उन्हें दीर्घकालीन लाभ पहुंचाया। इसने दिनकर में जाति-धर्म-निरपेक्ष चेतना को विकसित किया और न केवल उनकी रचनाओं में लोकतांत्रिक मूल्यों की आधारशिला निर्मित की, बल्कि खुद व्यक्तिगत जीवन में दिनकर को इन संकीर्णताओं से ऊपर उठाया। परिणामस्वरूप जहां जाति-धर्म का विचार किये बिना उन्होंने सीमा से बाहर जाकर भी लोगों की मदद की[15] वहीं जाति के आधार पर मदद चाहने वालों को स्पष्ट इनकार करने से नहीं हिचके।[16]

बहरहाल, निराश होकर दिनकर ने 1933 में बरबीघा हाईस्कूल के प्रधानाध्यापक का पद स्वीकार किया। यहां उनका प्रारंभिक वेतन 55 रुपये मात्र था। स्कूल के चेयरमैन और मंत्री बड़े-बड़े जमींदार थे जिनके बीच काम करना उनके स्वाभिमान के प्रतिकूल था। वर्ष बीतते-बीतते अक्टूबर 1934 में बिहार सरकार के राजस्व विभाग में वे सब-रजिस्ट्रार हो गए। इस पद पर वे सितम्बर 1943 तक रहे। यह नौकरी भी उनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं थी, लेकिन पारिवारिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करने की विवशता ने उन्हें इससे छुटकारा लेने नहीं दिया।

सरकारी नौकरी के साथ ही दिनकर के जीवन का दूसरा चरण शुरू होता है। एक कवि के रूप में उन्हें प्रतिष्ठा नौकरी में आने के बाद ही मिली। यह गौरतलब है कि नौकरी से पहले ही उनके दो काव्य संग्रह 'विजय संदेश' (1928) तथा 'प्रणभंग' (1929) प्रकाशित हो चुके थे, लेकिन लगता नहीं कि इन संग्रहों को हिन्दी जगत में कोई विशेष प्रतिष्ठा तब मिली हो। 'विजय संदेश' तो न केवल परिदृश्य से गायब होकर अनुपलब्ध हो गया, बल्कि स्वयं दिनकर भी उसका नाम भूल गए। वे इसका जिक्र 'बारदोली विजय' नाम से किया करते

थे।[17] एक कवि के रूप में दिनकर को पहचान 'रेणुका' (1935) के प्रकाशन से मिली और 'हुंकार' (1939) के प्रकाशन के बाद उन्हें युग का प्रतिनिधित्व करने वाले क्रांतिकारी कवि के रूप में जाना जाने लगा। 'हुंकार' की भूमिका में रामबृक्ष बेनीपुरी ने लिखा ''हमारे क्रांति युग का संपूर्ण प्रतिनिधित्व कविता में इस समय 'दिनकर' कर रहा है।''[18]

'रेणुका' के प्रकाशन के बाद दिनकर को सरकार की ओर से चेतावनी मिली। ऐसी चेतावनी आगे भी बार-बार मिली। चेतावनी का एक रूप यह भी था कि 1934 से 1939 के बीच ग्रामीण अंचलों में 22 बार उनका तबादला किया गया।[19] अंतिम चेतावनी संभवतः 'ओ द्विधाग्रस्त शार्दूल बोल' (1940) शीर्षक कविता के प्रकाशन के बाद मिली। गौरतलब है कि 1940 में 'रसवंती' और 'द्वंद्वगीत' शीर्षक रोमानी कविताओं के प्रकाशन के बाद दिनकर की काव्ययात्रा में एक लम्बा ठहराव आ गया और 1946 के पहले उनका कोई अन्य संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ। यह दिनकर के लिए गहन आत्मसंघर्ष का समय था।

राष्ट्रीय आन्दोलन के उस दौर में राष्ट्रवादियों और स्वतंत्रता प्रेमियों के बीच सरकारी नौकरी करने वाले को अच्छी नजरों से नहीं देखा जाता था। यह सरकार समर्थक होने के समान था। दिनकर जैसे राष्ट्रवादी कवि के लिए तो यह एक स्पष्ट अंतर्विरोध था। सरकारी नौकरी के आरम्भिक दिनों में ही बनारसीदास चतुर्वेदी ने सलाह दी थी कि उन्हें सरकारी नौकरी नहीं करनी चाहिए[20] लेकिन सरकारी नौकरी से कई बार त्रस्त हो जाने के बावजूद दिनकर ने अगर उसे जारी रखा तो सिर्फ इसलिए क्योंकि परिवार के पालन का संकट उनके सामने मुंह बाए खड़ा था। 'कल्पना' में प्रकाशित अपने संस्मरण में उन्होंने लिखा है

> घबराहट में आकर कई बार मैंने सोचा कि नौकरी अब छोड़ दूं। किंतु तीन बातें थीं, जिनके कारण मैं नौकरी नहीं छोड़ सका। पहली तो यह कि नौकरी छूट गई तो परिवार खाएगा क्या? दूसरी यह कि हर तबादले के साथ मुझे चार-छः दिनों की छुट्टियां मिल जाती थीं जिन्हें मैं जायसवालजी के सान्निध्य में बिताने को पटना चला जाता था। और तीसरी यह कि जयप्रकाशजी बराबर यह शह देते रहते थे कि इस्तीफा देने की अपेक्षा बरतरफ हो जाना ही श्रेष्ठ है।[21]

निःसंदेह नौकरी के मोह ने दिनकर की उग्रता पर अंकुश लगाया होगा। यदि उनकी उग्रता पर कुपित होकर सरकार ने उन्हें बर्खास्त कर दिया होता तो दिनकर यशस्वी बनकर उभरते। किंतु दिनकर का संकट था कि इस यश से न ही उनका अस्तित्व कायम रहता और

न ही परिवार की भूख मिटा सकते थे। परिवार में उनको छोड़ आय का कोई दूसरा स्रोत नहीं था, ऐसे में आर्थिक कठिनाइयों से जूझते संयुक्त परिवार की समस्या के लिए क्या समाधान था? निरंतर अपने स्वाभिमान को दांव पर लगाने के दुष्परिणाम दिनकर ने स्वयं भोगे। उन्होने कई जगह अपने आप को पराजित अनुभव किया। इन अनुभूतियों के पीछे नौकरी की विवशता और उसके लिए अपने-आप से किए गए समझौते महत्वपूर्ण कारण हैं। इस आत्मग्लानि से बाहर आने के लिए ही उन्होने दो बार इस्तीफा भी दिया था जिसे सरकार ने स्वीकार नहीं किया।[22]

पारिवारिक दायित्वों के आधार पर दिनकर के सरकारी नौकरी करने की मजबूरियों को समझा जा सकता है। दिनकर भी इंसान थे, उनसे यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि परिवार को भूखे मरने के लिए छोड़कर कवि कर्म निबाहते। लेकिन असली परीक्षा तब आई जब सितम्बर 1943 में उन्होंने सरकार के युद्ध प्रचार विभाग की नौकरी स्वीकार कर ली। ध्यान रखना चाहिए कि यह वही समय है जब देश की जनता 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में 'करो या मरो' के नारे के साथ निर्णायक संघर्ष कर रही थी। साढ़े चार सौ वेतन (और साथ में युद्ध-भत्ते) का प्रलोभन जितना बड़ा था उतना ही दारुण था जनआन्दोलनों के विरुद्ध औपनिवेशिक प्रचार तंत्र का हिस्सा बनना। यह वह नियुक्ति थी जिसने दिनकर के प्रशंसकों को बहुत हताश और नाराज कर दिया, उनकी निन्दा भी की गई। नौकरी स्वीकार करते समय दिनकर की मनःस्थिति की एक झलक शिवपूजन सहाय को लिखे एक पत्र से मिलती है ''आज चार्ज दे रहा हूं। कल भोर की गाड़ी से घर जाउंगा और अगले सोमवार को पटने। मुझे कुछ भी नहीं मालूम है कि मैं किन शर्तों पर क्या करने जा रहा हूं। कभी-कभी मन उदास हो जाता है। द्विजजी ने सारा दायित्व भाग्य पर छोड़ा था सो ही ठीक है।''[23] निन्दा, अपमान और उदासी सहकर भी दिनकर ने दो वर्ष तक इस नौकरी को जारी रखा, लेकिन स्थिति असहनीय होते-होते अंततः विभाग के साथ असहयोग की स्थिति में पहुंच गई। बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे एक पत्र में इस नौकरी को 'डीग्रेडिंग' बताते हुए दिनकर ने लिखा कि मुझे खुद हैरानी है कि कैसे मैं दो साल तक इसे बर्दाश्त करता रहा।[24]

बहरहाल, 1945 से दिनकर एक बार पुनः साहित्य जगत में सक्रिय होते हैं, पहले से अधिक ऊर्जावान, ओजस्वी और क्रांतिकारी रूप में। 1946 से उनकी किताबों के प्रकाशन का

जो क्रम शुरू हुआ वह अंत तक जारी रहा। स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ दिनकर का भी भाग्योदय हुआ। एक से एक बड़े पद उन्हें मिले। जनसम्पर्क विभाग में अधिकारी, प्रोफेसरशिप, संसद सदस्यता, वाइस चांसलर और अंततः भारत सरकार के हिन्दी सलाहकार। यह भी एक विचित्र विरोधाभास है कि आजाद भारत में दिनकर सत्ता के विरुद्ध जितना ही खुलकर गरजते रहे, सत्ता के उतने ही प्रिय बने रहे। 1971 में वे पदमुक्त होकर पटना चले आए और 1974 में मद्रास में एक तीर्थयात्रा के दौरान हृदयगति रुक जाने से उनका निधन हो गया।

दिनकर को 65 वर्ष का जीवनकाल मिला और 46 वर्ष का रचनाकाल। यह एक लम्बा दौर है और स्वाभाविक है कि इस दौर में बड़े बदलाव हुए। दिनकर का युग कोई सीधा-सपाट युग नहीं है। उसमें राष्ट्रीय आन्दोलन भी शामिल है और आजादी के बाद का दौर भी। यह भी सही है कि दिनकर को पहचान राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में मिली, इसीलिए प्रायः उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन के फ्रेम में रखकर देखने की प्रवृत्ति प्रचलित है। लेकिन इस प्रसंग में यह भी याद रखना चाहिए कि राष्ट्रीय आन्दोलन भी कोई इकहरी चीज नहीं था, उसमें कई अंतर्धाराएं थीं। तीसरे दशक में राष्ट्रीय आन्दोलन के उभार से दिनकर के जुड़ाव को रेखांकित करते हुए सावित्री सिन्हा ने लिखा है कि

> मध्य वर्ग में शासन-सत्ता के प्रति घोर अविश्वास था और वे विदेशी राज के शिकंजों से मुक्ति पाने के लिए हर प्रकार का बलिदान करने के लिए सन्नद्ध थे। दिनकर उसी मध्य वर्ग के एक संवेदनशील युवक थे, जो जवाहर, सुभाष, जयप्रकाश और नरेन्द्रदेव के साथ था, जो बिना स्वराज्य प्राप्ति के एक क्षण भी चुप नहीं बैठना चाहता था...दिनकर की सहानुभूति आरंभ से ही उग्रदल के विरोधों और विद्रोहों के साथ थी। 'रेणुका' में संकलित राष्ट्रीय गीतों और 'हुंकार' तथा 'सामधेनी' की प्रेरणा के बीज इन्हीं विरोधों में हैं। गांधी के सविनय अवज्ञा आंदोलन, अछूत आंदोलन, चर्खा और तकली-प्रचार में नहीं। नोआखाली यात्रा के पूर्व उन्होने गांधी के व्यक्तित्व और सिद्धांतो पर न कोई कविता लिखी थी और न गांधीवाद को समय का समाधान माना था। अपने ही शब्दों में उन्होने गांधी की पूजा सदैव 'अंगारों' से की थी।[25]

यह स्थितियों का घनघोर सरलीकरण है, इस प्रसंग में कम से कम दो बातें जरूर कही जानी चाहिए। एक तो यह कि पूरे देश के साथ-साथ शिक्षित मध्यवर्ग के असंतोष में भी वृद्धि हुई थी यह बात आंशिक रूप से ही सही है। हम जानते हैं कि इस शिक्षित मध्यवर्ग के एक बड़े हिस्से के लिए शिक्षा का उद्देश्य ही सरकारी नौकरी थी, वहीं इसमें ऐसे लोग भी थे जो

मजबूरन या स्वेच्छा से देशविरोधी सरकार की दमनकारी नीतियों को अमली जामा पहना रहे थे। इसी तरह यह बिल्कुल सही है कि राष्ट्रीय आन्दोलन के पूरे दौर को 'गांधी युग' का पर्याय बना देना गलत है, खुद कांग्रेस के अन्दर दो मुख्य विरोधी खेमों की चर्चा लगातार की जाती है; लेकिन दिनकर को सिर्फ गांधीवादी मानना जितना गलत होगा, उतना ही गलत है उनके प्रभाव को नकार देना। अगर दिनकर ने नोवाखली यात्रा (1934) से पूर्व गांधीजी पर कोई कविता नहीं लिखी थी तो नेहरू तथा अन्य की चर्चा भी उन्होंने 1945 से पहले नहीं की थी। एक पार्टी के साथ जुड़े होने के कारण एक राजनेता की विचारधारा का निर्णय करना जितना सरल होता है, उसकी तुलना में कवि की विचारधारा कहीं अधिक जटिल होती है क्योंकि उसमें अनेक दिशाओं से प्रभाव ग्रहण किये जाते हैं। इस प्रसंग में ज्ञानपीठ पुरस्कार ग्रहण करने के अवसर पर दिनकर द्वारा की गई इस स्वीकारोक्ति का असाधारण महत्व है : ''जिस तरह मैं जवानी भर इकबाल और रवीन्द्र के बीच झटके खाता रहा, उसी प्रकार मैं जीवन भर गांधी और मार्क्स के बीच झटके खाता रहा हूं। इसलिए उजले और लाल से गुणा करने पर जो रंग बनता है, वही रंग मेरी कविता का रंग है।''[26]

दिनकर का युग इकहरा नहीं था। उनके युग में प्रत्यक्ष दिखने वाला राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा था तो उसी के समानान्तर वर्ग और जाति के विनाश के लिए चलने वाले आन्दोलन उसी युग के अंग हैं। उनका युग भविष्य के निर्माण की चिंताओं से परिचालित था, तो इतिहास की जीवंत प्रेरणाओं से भी वह संचालित हो रहा था। अगर उनके युग को आन्दोलित कर देने वाली ललकार की आवश्यकता थी तो कोमल भावनाओं की पुकार भी उनके ही युग की जरूरत थी। दिनकर के अपने जीवनानुभवों और संस्कारों के साथ मिलकर जैसे इन तमाम प्रभावों ने दिनकर को बढ़ने में अपना योगदान दिया। उसी तरह अपने युग की तमाम अन्य प्रेरक शक्तियों के साथ मिलकर उनकी कविता ने भी उस युग को गढ़ने में अपनी भूमिका निभाई।

दिनकर के काव्य की प्रेरक पृष्ठभूमि

नवजागरण और राष्ट्रीय स्वर

दिनकर के काव्य में प्रेरक पृष्ठभूमि के तौर पर प्रायः राजनैतिक कारकों को चिन्हित किया जाता है। सामान्यतया यह ठीक भी है क्योंकि दिनकर ने राजनैतिक आन्दोलनों, घटनाओं, समस्याओं, यहां तक कि राजनैतिक व्यक्तियों पर भी पर्याप्त मात्रा में लेखन किया है। लेकिन किसी भी अन्य गंभीर कवि की तरह दिनकर का भाव जगत भी विभिन्न प्रेरक तत्वों से मिलकर निर्मित हुआ था। राजनैतिक मतवैभिन्य और उतार-चढ़ाव के बीच दिनकर ने जो दिशा चुनी उसका संबंध सिर्फ तात्कालिक राजनीति से नहीं, बल्कि एक विशिष्ट मूल्यबोध से भी था। इस मूल्यबोध का एक महत्वपूर्ण स्रोत था भारतीय नवजागरण। उन्नीसवीं सदी का भारतीय नवजागरण इतिहास का कोई बंद हो चुका अध्याय नहीं था, बल्कि उसकी जीवन्त अनुगूंजें दिनकर के युग में मौजूद थीं। दिनकर नवजागरण को एक ऐसा वैचारिक आन्दोलन मानते थे जो देश में 'भारत और यूरोप के संपर्क के साथ शुरू हुआ और जो कदाचित आज भी चल रहा है।'[27] लेकिन बीसवीं सदी में इसका रूप बदल गया था, एक सांस्कृतिक आन्दोलन एक राजनैतिक आन्दोलन में बदल चुका था।

'रेनेसां' के हिन्दी प्रतिशब्द के तौर पर दिनकर अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग शब्दों का इस्तेमाल करते हैं। 'रेती के फूल' शीर्षक निबंध संग्रह में उसके लिए नवजागरण शब्द का इस्तेमाल मिलता है तो 'पंत प्रसाद और मैथिलीशरण' में इसके लिए 'पुनरुत्थान' और 'संस्कृति के चार अध्याय' में 'नवोत्थान' शब्द का प्रयोग किया गया है। हालांकि यह मात्र शब्द भिन्नता है, अवधारणा सर्वत्र एक सी है। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजी सभ्यता के साथ भारतीय संस्कृति की टकराहट के परिणामस्वरूप पहले बंगाल और महाराष्ट्र में और फिर इसके प्रभाव से देश के विभिन्न प्रांतों में धर्म और समाज सुधार की जो लहर उठी उसे ही भारतीय नवजागरण कहा जाता है। इसे दो धर्मों की टकराहट के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। दिनकर स्पष्ट करते हैं कि ऐसा कुछ नहीं था कि ईसाई धर्म हिन्दू अथवा इस्लाम धर्म से महान था याकि भारतीय धर्मों में जो कमियां थीं ईसाइयत ने उससे मुक्त किया। भारतीयों को चुनौती धर्म से नहीं, बल्कि विज्ञान और बुद्धिवाद से मिली

> भारत यूरोप के साथ आने वाले धर्म से नहीं डरा, बल्कि भय उसे यूरोप के विज्ञान को देखकर हुआ, उसकी बुद्धिवादिता, साहस और कर्मठता से हुआ। अतएव भारत में नवोत्थान का जो आन्दोलन उठा, उसका लक्ष्य अपने धर्म, अपनी परम्परा और अपने विश्वासों का त्याग नहीं, प्रत्युत यूरोप की विशिष्टताओं के साथ उसका सामंजस्य बिठाना था।... अधिभौतिकता की टकराहट से भारत की ऊंघती हुई बूढ़ी सभ्यता की नींद खुल गई और वह इस घाव से अपने घर के सामानों पर नजर दौड़ाने लगी कि जो चीजें यूरोप भारत लेकर आया है, वे हमारे घरों में हैं या नहीं। भारतीय सभ्यता का यही जागरण भारत का नवोत्थान था।[28]

यूरोपीय सभ्यता द्वारा पेश की गई चुनौती असल में संग्रह और त्याग के विवेक के जरिये अपनी परम्परा को विवेकपरक बनाने और यूरोपीय सभ्यता के मूल्यवान तत्वों के साथ उसका सामंजस्य बैठाने की चुनौती थी। विभिन्न सुधारकों ने अपने-अपने ढंग से इस चुनौती का सामना किया। दिनकर लिखते हैं कि

> हिन्दू जाति के भीतर राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, बंकिमचंद्र परमहंस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द उत्पन्न हुए, जिन्होने हिन्दू धर्म की पुरातनता को धो-मांजकर उसका एक ऐसा रूप खड़ा कर दिया जिस पर अंगरेजी पढ़े-लिखे हुए हिन्दुओं की भी श्रद्धा हो सकती थी। इसी प्रकार, इस्लाम के भीतर से सर सैयद अहमद खां, मौलाना हाली और वहाबी आन्दोलन के कई नेता प्रकट हुए जिन्होने कुरीतियों को हटाकर इस्लाम का एक निर्मल रूप दुनिया के सामने रखा। इस्लाम को शुद्ध करने वाले इस आंदोलन के पहले कवि हाली और दूसरे कवि सर इकबाल हुए।[29]

दिनकर बताते हैं कि राष्ट्रीयता की भावना को जिस रूप में हम आज देखते हैं वह आधुनिक काल में पैदा हुई। इस राजनैतिक राष्ट्रीयता की नींव सुधारकों ने सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के जरिये डाली थी।[30] सांस्कृतिक राष्ट्रीयता को राजनैतिक राष्ट्रीयता में रूपांतरित करने का श्रेय तिलक को देते हुए दिनकर उन्हें भारतीय राष्ट्रीयता का जनक बताते हैं और बहुत सारे मामलों में गांधी जी को उनके उत्तराधिकारी के तौर पर देखते हैं।[31] दिनकर नवजागरण के विभिन्न सुधारकों के विचारों एवं कार्यों का विस्तृत मूल्यांकन करते हुए विभिन्न तत्वों के लिए उनकी प्रशंसा करते हैं। उदाहरण के लिए वे राममोहन राय के 'विश्ववाद' या 'अंतर्राष्ट्रीयतावाद', दयानन्द सरस्वती की आक्रामकता और तिलक के सांस्कृतिक अभिमान की प्रशंसा करते हैं लेकिन सबसे अधिक वे मुग्ध होते हैं परमहंस रामकृष्ण के सहज अनुभूतिवाद

और विवेकानन्द के व्यापक दृष्टिकोण तथा प्रवृत्तिपरकता पर।[32] नवजागरण के इन तत्वों को दिनकर ने स्वयं आत्मसात किया है। बुद्धि के मुकाबले अनुभूति को प्राथमिक बताने वाली न जाने कितनी पंक्तियां उनकी रचनाओं में मौजूद हैं।[33] यह दिलचस्प है कि अनुभूति को वरीयता देने वाली ये पंक्तियां प्रायः धर्म से नहीं, बल्कि मानवीय आवेगों से संबंधित हैं अर्थात प्रवृत्तिपरक हैं। दिनकर मानते हैं कि बुद्धि भ्रमित करती है और अकर्मण्य बनाती है जबकि अनुभूति कर्म में प्रवृत्त करती है। दिनकर ने अनेक स्थानों पर निवृत्ति मार्ग की आलोचना की है। रामकृष्ण की साधना भी निवृत्तिपरक ही थी किन्तु वे इस पहलू की चर्चा अपने विश्लेषण में नहीं करते। इसके मुकाबले वे विवेकानन्द की प्रवृत्तिपरकता को रामकृष्ण के दर्शन का क्रियापक्ष बताते हैं।[34]

दिनकर नवजागरण की मूल्यवान चीजों से प्रेरणा प्राप्त करते हैं, लेकिन साथ ही यह भी याद रखते हैं कि भारत में नवजागरण के भीतर से ही साम्प्रदायिक रुझानों ने भी जन्म लिया जिनसे सावधान रहने की जरूरत है। यूरोपीय समाजों में नवजागरण की प्रक्रिया उन समाजों की आन्तरिक जरूरतों से पैदा हुई थी। लेकिन भारत में औपनिवेशिक हस्तक्षेपों के परिणामस्वरूप यह नवजागरण पैदा हुआ। इसीलिए इसकी परिणतियां भी भिन्न रहीं। दिनकर नोट करते हैं कि मौजूदा धार्मिक रूढ़ियों से टकराने के लिए अतीत का अवगाहन सभी देशों के नवजागरण की एक सामान्य प्रवृत्ति है, लेकिन भारत जैसे बहुधार्मिक देश में धर्म के मूल रूप की खोज के परिणाम अलगाववाद के रूप में प्रकट हुए। वे लिखते हैं

> जब रिनासां या नवजागरण का काल आता है, तब जातियों के कुछ प्राचीन सत्य दुबारे जन्म लेते हैं और जातियां अपने इतिहास के उस हिस्से से जा चिपकती हें जो गुजर चुका है, मगर जिसकी याद से लोगों में स्वाभिमान की रोशनी उमड़ती है। हिन्दुस्तान में भी यही हुआ और बदकिस्मती की बात यह हुई कि अपने पिछले इतिहास को देखते हुए मुसलमान अरब और कुरान की ओर बढ़ते गए और हिन्दू प्राचीन धर्मशास्त्र, वेद तथा उपनिषद् की ओर। नतीजा यह हुआ कि दोनो ही जातियों ने अपनी उन विशिष्टताओं पर जोर देना शुरू किया जो उन्हें अलग करने वाली थीं, उन पर नहीं, जो उन्हें मिलाने वाली थीं और जिन्हें हिन्दू और मुसलमानों ने आपस में मिलकर तैयार किया था।... भारत में जो रिनासां आया, उसका सबसे बड़ा दोष यह रहा कि उसने हिन्दुओं और मुसलमानों की आंखों को घुमाकर उनके सिर के पीछे कर दिया।[35]

नवजागरण ने संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र को गहराई से प्रभावित किया था। ऐसे में यह असंभव था कि साहित्य उससे अछूता रहे। जिन लेखकों ने धर्म के माध्यम से अपने समुदाय को जागृत करने का तरीका अपनाया अलगाववाद से उनके प्रभावित होने की संभावना भी ज्यादा थी। मुस्लिम राष्ट्रीयता का विकास करने वालों में मौलाना अल्ताफ हुसैन हाली हुए जिन्होने 'मुसद्दस' लिखा। दिनकर इसका भारतीय जनता के जागरण में बड़ा योगदान मानते हैं। वह कहते हैं कि हाली साहब को यह प्रेरणा मुस्लिम-समाज की दुर्दशा से मिली थी। 'मुसद्दस' में कई जगह इस बात का अफसोस भी है कि भारत में आकर हिन्दुत्व के मेल से इस्लाम का नुकसान पहंचा है। दिनकर हाली की इन पंक्तियों को प्रमाण स्वरूप उद्धृत करते हैं 'वो दीने हेजाजी का बेबाक बेड़ा/ निशां जिसका अक्साये-आलम में पहुंचा/ किये पै पिर जिसने सानी समुन्दर/ वो डूबा दहाने गंगा के आकर।'[36]

दिनकर मानते हैं कि भारतेन्दु से लेकर आधुनिक काल का हर लेखक कमोबेश नवजागरण से प्रभावित है। लेकिन वे हिन्दी क्षेत्र के नवजागरण की संपूर्ण अभिव्यक्ति मैथिलीशरण गुप्त में पाते हैं।[37] यह भी ध्यान देने की बात है कि दिनकर पर सबसे अधिक प्रभाव गुप्तजी का ही पड़ा। हालांकि दिनकर नवजागरण पर सकारात्मक नकारात्मक प्रभावों की छानबीन विस्तार से नहीं करते फिर भी इतना संकेत करते हैं कि प्रतापनारायण मिश्र का 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' का नारा तथा मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' इसी अलगाववाद की अभिव्यक्तियां हैं। 'भारत भारती' में मुसलमानों के शासन को अत्याचारी बताते हुए उनसे मुक्त कराने के लिए अंग्रेजों को कृतज्ञता ज्ञापित की गई है : ''अन्यायियों का राज्य भी क्या अचल रह सकता कभी?/ आखिर हुए अंग्रेज शासक राज्य है जिनका अभी।''[38] हालांकि इसी लेख में वे यह भी बताते हैं कि आगे चलकर गुप्तजी ने अपने दृष्टिकोण में सुधार किया। धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता के लिए कांग्रेस द्वारा चलाए गए आन्दोलन के फलस्वरूप हिन्दी साहित्य से इस अलगाववादी चेतना का निर्मूलन हो गया।[39]

बहरहाल, इसी लेख के अंतिम हिस्से में भारत विभाजन के प्रसंग में दिनकर अफसोसपूर्वक यह भी कहते हैं कि साहित्य में एकता और क्रांति का प्रतिनिधित्व करने वाली धारा हार गई और जीत उनकी हुई जो अलगाव के रास्ते पर चले।[40] असल में राष्ट्रीय आन्दोलन में कांग्रेस की प्रभावशाली भूमिका और साहित्य में प्रगतिशील ताकतों के वर्चस्व ने

शिष्ट साहित्य में साम्प्रदायिकता की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति को जरूर रोक दिया था, लेकिन इसके बाहर ये शक्तियां सक्रिय रहीं जिसका परिणाम न सिर्फ विभाजन के रूप में सामने आया, बल्कि आज भी वे समस्याएं हमारे सामने सिर उठाती रहती हैं। नवजागरण से पैदा हुई दो परस्पर विरोधी धाराओं में से दिनकर का संबंध उस धारा से था जिसका जोर विवेकपरकता, धार्मिक सहिष्णुता और विश्व-मानवतावाद पर था इसीलिए वे आज भी हमारे लिए प्रासंगिक हैं।

ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक गाथाओं के प्रेरक सन्दर्भ

जहां भारतीय नवजागरण ने दिनकर के भावबोध को निर्मित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, वहीं ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संदर्भों ने उन्हें अपने कथ्य के लिए एक बड़ा आधार मुहैया कराया। दिनकर ने भारतीय जनता में राष्ट्रीय एकता के सूत्र के लिए हर संभव क्षेत्र से प्रसंगों को ग्रहण किया जो वर्तमान के संघर्षों को और प्रभावशाली बनाने में सहायक थे। इसके लिए वेदों और महाकाव्यों, पौराणिक कथाओं और ऐतिहासिक घटनाओं का उन्होंने भरपूर उपयोग किया है। बचपन में उन्होने 'रामायण' और 'रामचरितमानस' का अनेकों बार पाठ किया किंतु अपने काव्यात्मक सृजन में उसका कोई उपयोग नहीं किया। राम का चरित्र यदा-कदा ही उनकी रचनाओं में आता है। उदाहरण के लिए, 'राजा रानी' कविता में पुरुष की कठोरता में 'अग्नि परीक्षा' का संदर्भ आता है, तो वहीं 'रश्मिरथी' में त्याग का चरम उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए दो पंक्तियों में राम की प्रशंसा की गई है। 'महाभारत' की कथा के प्रसंग उन्हें बार-बार लुभाते रहे और अपने काव्य सृजन में उन्होंने उसका भरपूर उपयोग भी किया है। 'प्रण-भंग', 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' में 'महाभारत' के प्रसंगों को लेकर अपने संदेश को उन्होंने देश की जनता तक पहुंचाया।

अपने संदेशों और उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए वेदों, महाकाव्यों, पौराणिक कथाओं और पात्रों का उपयोग करने के पीछे अतीत के अवगाहन की नवजागरण की प्रेरणा कार्यरत है। यह अतीत मोह नहीं, बल्कि वर्तमान को प्रेरित करने के लिए अतीत का नवीकरण है। स्वयं दिनकर के शब्दों में 'जब भी अतीत में जाता हूं, मुर्दों को नहीं जिलाता हूं/ पीछे हटकर

फेंकता बाण, जिससे कंपित हो वर्तमान।'[41] ऐतिहासिक-पौराणिक पात्र और कथाएं शताब्दियों से भारतीयों के लोक जीवन में व्याप्त है, इसीलिए पढ़ते-सुनते समय इनसे तादात्म्य स्थापित करना सहज होता है। दिनकर ने संस्कृत साहित्य से केवल कथाएं ही नहीं ग्रहण कीं बल्कि जिस रचना के लिए कथा ग्रहण की वहीं से उसके नामकरण के लिए यथोचित संज्ञाओं को भी ग्रहण किया। इस प्रकार 'प्रण-भंग', 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी', 'परशुराम की प्रतीक्षा', और 'उर्वशी' जैसे नाम भारतीय लोकमानस के लिए अपरिचित नहीं हैं। यही स्थिति ऐतिहासिक स्थानों और पात्रों को ग्रहण करने में है। 'इतिहास के आंसू' में मगध, पाटलिपुत्र, मिथिला, वैशाली, बक्सर, कलिंग, लखनऊ, दिल्ली, नालंदा आदि स्थानों का वैभव और महत्व ऐतिहासिक है। उनके काव्य में आए कृष्ण, भीष्म, पाण्डु, युधिष्ठर, भीम, अर्जुन, कर्ण, दुर्योधन, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, परशुराम, एकलव्य पौराणिक पात्र हैं, तो वहीं बोधिसत्व, चंद्रगुप्त, चाणक्य, सिकन्दर, सैल्यूकस, अशोक, अकबर, सलीम, नूरजहां, शाहजहां, मुमताज, बहादुरशाह जफर, वाजिद अली शाह 'अख्तर', सिराजुद्दौला, शेरशाह आदि पात्र ऐतिहासिक हैं।

महाभारत के युद्ध प्रसंग पर दिनकर का पहला प्रबंध काव्य कुरुक्षेत्र लिखा गया है। द्वितीय विश्वयुद्ध की घटना तो वर्तमान की थी किंतु इस विभीषिका का समझने-समझाने की दृष्टि से उन्होने उस कथा को लिया जो भारतीय जनजीवन में हजारों वर्षों से प्रसिद्ध है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान दुनिया भर के चिंतकों ने इस समस्या पर अपने साहित्यिक सृजन के माध्यम से अपनी प्रतिक्रिया प्रस्तुत की। दिनकर का 'कुरूक्षेत्र' द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान ही लिखा गया। यह प्रबंध काव्य भी युद्ध की विभीषिका की समस्या पर विचार करता है। कवि के सम्मुख यह प्रश्न है कि युद्ध का दायित्व किस पर हो? उस पर जो अपनी शक्ति और बढ़ाना चाहता है ताकि अन्य उसकी अधीनता स्वीकार कर उसे मनमानी करने की छूट दें और चुपचाप उसके शोषण, अत्याचार को सहन करते रहें; या फिर इसका दायित्व उसके सिर हो जो शोषण और अत्याचार के विरुद्ध युद्ध का आह्वान करता है। मौजूदा विषमता से लाभान्वित होने वाला व्यक्ति युद्ध नहीं चाहता इसीलिए वह शांति की बात करता है किंतु यथास्थिति बनाए रखकर असल में वह युद्ध को निकट बुलाता है। दिनकर की दृष्टि में युद्ध निन्दित कर्म

है किंतु शोषण और अत्याचार के प्रतिकार में किया गया युद्ध आपद्धर्म है और वह निंदनीय नहीं होता।

महाभारत की कथा उनके दूसरे प्रबंध काव्य के लिए भी प्रेरणा-स्रोत बनी। 'रश्मिरथी' सामाजिक समस्या को लेकर लिखा गया ऐसा प्रबंध-काव्य है जिसमें चरित्रों में ही नहीं बल्कि कवि की भाषा शैली में भी उदात्तता झलकती है। कर्ण सूत पुत्र के रूप में प्रस्तुत होता है लेकिन घटनाओं के साथ उसके चरित्र की गरिमा बढ़ती जाती है और कथा के अंत तक उसके चरित्र का जैसा उदात्तीकरण हुआ है वह महाभारत के कर्ण से बहुत भिन्न हो जाता है। कवि ने कर्ण की कथा के जरिये भारतीय समाज की युगव्यापी समस्या जातिवाद पर विचार किया है। स्वाधीनता आंदोलन के दौरान जातिगत भेदभाव का प्रश्न एक ज्वलंत मुद्दा बन गया था। दलित जातियों के साथ यदि समानता का व्यवहार नहीं किया जाता तो वह उसी आंदोलन का हिस्सा कैसे बन सकते थे जिसमें ऊंची जातियों के लोग भाग ले रहे हों। नतीजतन, दलितों का अलग आन्दोलन भी उसी दौर में उभरा। गांधी और अम्बेडकर ने अलग-अलग कोणों से इस समस्या को देखा और उससे संघर्ष किया, लेकिन आजादी के बाद भी यह समस्या हल नहीं हुई और आज तक बदस्तूर जारी है। दिनकर ने इसे राष्ट्रीयता एकता के सामने मौजूद एक विकराल सामाजिक समस्या के रूप में देखा। 'रश्मिरथी' पढ़ कर लगता है कि जिस दृष्टिकोण से कवि इस समस्या पर विचार करने का प्रयास कर रहा है उसके लिए कर्ण से उपयुक्त पात्र दूसरा कोई हो भी नहीं सकता था। ''सामाजिक न्याय की ओर उन्मुख रहने के कारण ही दिनकर के अंतर्मन में तथाकथित 'सूतपुत्र' कर्ण का पुरूषार्थी वीर चरित्र सदैव उमड़ता-घुमड़ता रहा और वे 'उच्च कुल' की अकड़ की लानत-मलामत करते रहे।''[42]

दिनकर की तीसरी प्रबंध रचना 'उर्वशी' है। इसकी कथा के लिए दिनकर को कई जगह भटकना पड़ा है, क्योंकि इसके कथा-सूत्र कई जगहों पर बिखरे पड़े थे। 'उर्वशी' से संबंधित कथा का प्राचीनतम सूत्र ऋग्वेद में मिलता है लेकिन वहां वह बहुत ही संक्षिप्त है। उर्वशी पुरूरवा को छोड़कर चली गई है, वह उसे ढूंढ रहा है। एक दिन जब वह मिलती है तो पता चलता है कि वह गर्भवती है। पुरूरवा उसे वापस लाना चाहता है पर वह नहीं आती। 'शतपथ ब्राह्मण' और में इसे थोड़ा विस्तार मिला है। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' में इस कथा को मर्मस्पर्शी ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

पुरुरवा और उर्वशी की कथा को विषय बनाते हुए दिनकर का उद्देश्य प्राचीन प्रेमकथा को पुनः प्रस्तुत करना बिल्कुल नहीं था। 'उर्वशी' को दिनकर के 'कामाध्यात्म' दर्शन की अभिव्यक्ति माना जाता है। तमाम आधुनिकता के बाद भी भारतीय समाज और साहित्य में काम एक वर्जित विषय ही रहा है। इसके प्रति आकर्षण भी है और इसे गर्हित भी समझा जाता है। प्रेम और काम से संबंधित तमाम दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक पहलुओं पर इस कृति में विचार किया गया है। वस्तुतः यह गहन प्रेम में शरीर के माध्यम से शरीर का अतिक्रमण कर जाने का आख्यान है। विद्वानों ने ठीक इंगित किया है कि दिनकर ने पौराणिक कथा को मनोवैज्ञानिक धरातल पर पुनर्कल्पित किया है।[43]

उक्त प्रसंगों के अलावा दो और पौराणिक-मिथकीय चरित्रों ने दिनकर को आकर्षित किया। एक चरित्र परशुराम का है और दूसरा अर्द्धनारीश्वर का। परशुराम का चरित्र दो विरोधी प्रवृत्तियों को एकसाथ धारण करता है, उनमें शस्त्रबल भी है और शास्त्रबल भी। जहां राम का चरित्र कहीं भूले-भटके ही दिनकर के काव्य में स्थान पाता है, वहीं 'रश्मिरथी' का द्वितीय सर्ग 'कर्ण-परशुराम' प्रसंग पर ही केन्द्रित है और चीन आक्रमण के समय जिस नायक की प्रतीक्षा कवि करता है, वह भी परशुराम ही है।

अर्द्धनारीश्वर का प्रतीक दिनकर की रचनाओं में संभवतः 50 के दशक से आने लगता है। अर्द्धनारीश्वर शिव और पार्वती का संयुक्त रूप है जिसका आधा शरीर स्त्री का एवं आधा पुरुष का है। इस मिथक पर केन्द्रित कोई प्रबंध काव्य दिनकर ने नहीं लिखा है, लेकिन उनकी परवर्ती रचनाओं में यह मिथक बार-बार आता है। अर्द्धनारीश्वर का यह पुनर्सृजन दिनकर के परिपक्व चिंतन की परिणति है। इस मिथक के जरिये दिनकर ने भविष्य के ऐसे पूर्ण मनुष्यों की कल्पना की है जिनमें स्त्रियों और पुरुषों दोनों के ही गुण होंगे। यह पितृसत्ता द्वारा गढ़े जाने वाले इकहरे स्त्री-पुरुष चरित्रों का सर्जनात्मक प्रतिवाद है। 'अर्द्धनारीश्वर', 'संतुलित समाज' शीर्षक कविताओं तथा 'उर्वशी' के अंतिम दृश्य के अलावा दिनकर के गद्य-साहित्य में भी यह कल्पना कई बार व्यक्त हुई है।

स्वतंत्रता आन्दोलन और जन-चेतना का विकास

दिनकर का साहित्य सृजन जिस वातावरण की देन है वह भारत का संघर्ष काल है। संघर्ष मात्र औपनिवेशिकता के साथ ही नहीं बल्कि सामंतवाद-साम्राज्यवाद और सांप्रदायिकता के साथ भी है। इस संघर्ष ने भारत की स्वाधीनता के परिणामों पर भी निर्णायक प्रभाव डाला। औपनिवेशिक शासन भारतीय जनता का प्रत्यक्ष शत्रु था किंतु सामंतवाद, सांप्रदायिकता और विभिन्न विचारधाराओं और आदर्शों के कारण खुद आंदोलनकारियों के बीच जिस प्रकार अंतःसंघर्ष चल रहा था, उससे उनकी संपूर्ण शक्ति का उपयोग नहीं हो पा रहा था और वे स्वयं अलग-अलग समूहों में विभाजित होते रहे। उदाहरण के लिए, गांधीजी के असहयोग आंदोलन में भाग लेकर उत्साहित अधिकतर युवा चौरी-चौरा कांड के बाद अचानक आंदोलन को लंबे समय तक रोक देने के कारण नए विकल्पों को ढूंढने लगे[44] परिणामस्वरूप क्रांतिकारी संगठनों का गठन होने लगा। समाजवादी और साम्यवादी विचारधारा के प्रभाव में आने वाले आंदोलनकर्ताओं की ओर से भी नई संस्थाओं का गठन हो रहा था। जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचंद्र बोस, जयप्रकाश नारायण, आचार्य नरेन्द्रदेव जैसे युवा नेतृत्वकारियों के कारण कांग्रेस के अन्दर भी वैचारिक दलों का निर्माण हुआ। साम्यवादी प्रभाव के कारण ही कांग्रेस के सदस्यों ने मिलकर 'कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी' का निर्माण किया। बाद में इस पार्टी में भी मतभेद पैदा हो गए और इनके बीच से ही दक्षिणपंथी समाजवादियों का उदय हुआ। जहां इस पार्टी के सैद्धांतिक प्रवक्ता जयप्रकाश नारायण थे, वहीं दक्षिणपंथी समाजवादियों में मीनू मसानी, अशोक मेहता, अच्युत पटवर्द्धन, राममनोहर लोहिया जैसे कम्युनिस्ट-विरोधी राष्ट्रवादी भी थे।[45] इस तरह के अनेकों अंतःसंघर्षों ने आंदोलन की शक्ति का क्षीण करने का भी काम किया।

स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान भारतीय राजनीतिक परिस्थितियों में हो रहे परिवर्तनों और घटनाओं ने दिनकर की सृजनात्मक शक्ति को आकर्षित किया। बारदोली के सत्याग्रह और उसकी सफलता का परिणाम था 'विजय संदेश'। औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध गांधीजी द्वारा असहयोग आंदोलन चलाया जा रहा था जिससे जनता एकजुट हो रही थी किन्तु चौरी-चौरा काण्ड की घटना के बाद अचानक आंदोलन वापस ले लिया गया और जनता को दिशाहीन छोड़ दिया गया। स्कूल, कॉलेज, नौकरी छोड़ कर आन्दोलन के लिए आए युवक

विकल्पहीन होकर भटकाव से जूझने लगे। छः वर्षों के लिए भारतीय राजनीति दिशाहीन हो चुकी थी दिनकर ने इस बीच 'प्रणभंग' की रचना की। हिन्दी साहित्य में इस समय छायावादी आंदोलन प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था।

दिनकर के साहित्य का अध्ययन करने से पता चलता है कि वह सामयिक घटनाओं के प्रति कितने संवेदनशील रहे हैं। घटनाओं की सूचना समाचार होती हैं जबकि साहित्यकार उनकी संवेदनशील कलात्मक अभिव्यक्ति करता है। साहित्यकार का चिंतन अपने समाज को दिशाहीन होने से बचाने के लिए होता है। 1933 ई. में जब गांधीजी अछूतोद्धार आंदोलन के लिए देश का भ्रमण कर रहे थे, पूना, बक्सर और देवघर में उन पर सनातनियों ने हमला किया। कवि ने इस घटना से दुखी होकर 'बोधिसत्व' नाम की कविता लिखी।[46] यह 'रेणुका' संग्रह की राष्ट्रीय कविताओं में से एक है। इसी प्रकार 'हुंकार' में 'मेघरन्ध्र में बजी रागिनी' कविता 1935 में इटैलियन फॉसिस्टों ने जब अबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया, तब लिखी गई।[47] 1937-38 में जब कांग्रेस और लीग में समझौता वार्ता विफल हुई तो कवि ने दोनो संप्रदायों के बीच सौहार्द्र भाव के प्रसार के लिए 'तकदीर का बंटवारा' शीर्षक कविता लिखी।[48] इससे पता चलता है कि स्वतंत्रता आंदोलन के विकास के साथ-साथ दिनकर का राष्ट्रवादी चिंतन और सृजन भी विकसित हो रहा था।

बयालीस के आंदोलन की असफलता ने जहां राष्ट्रवादियों को निराश किया, वहीं सामान्य जनता का भी मनोबल गिरा। अचानक आंदोलन के सभी राष्ट्रवादी नेताओं को प्रशासन ने जेल में भर दिया। कम्युनिस्ट उनकी अनुपस्थिति में साम्राज्य विरोधी आंदोलन का नेतृत्व कर पाने में असमर्थ रहे, द्वितीय विश्व-युद्ध में रूस के शामिल होने से वे असमंजस की स्थिति में आ गए थे। नेतृत्वविहीन जनता में एक तरह की उदासीनता भरने लगी। स्वाधीनता आंदोलन को लेकर जो ऊहापोह की स्थिति बन रही थी उसपर दिनकर ने लिखा 'वह प्रदीप जो दीख रहा है झिलमिल दूर नहीं/ थक कर बैठ गये क्या भाई ! मंजिल दूर नहीं है।'[49] दिनकर ने अपनी लंबी कविता 'दिल्ली और मास्को' में विषमता के विरुद्ध क्रांति के लिए रूसी साम्यवादियों की प्रशंसा की, लेकिन साथ ही 'भारत छोड़ो' आंदोलन के दौरान परमुखापेक्षिता के लिए भारतीय साम्यवादियों की आलोचना की। इस प्रकार हम देखते हैं कि दिनकर ने स्वतंत्रता आंदोलन से प्रेरणा ग्रहण करते हुए सार्थक साहित्य का सृजन भी किया।

दिनकर ने स्वतंत्रता आन्दोलन के उत्कर्षकाल में काव्यसृजन आरम्भ किया। आरम्भ से ही उनकी रचनाशीलता में राजनैतिक सरोकार मौजूद रहे। जैसे-जैसे स्वाधीनता आन्दोलन का विकास होता गया दिनकर की रचनाओं में उतनी ही स्पष्टता और ओज आता गया। सरकारी नौकरी करने के दौरान उनकी रचनात्मकता पर अंकुश तो लगा, लेकिन वहां भी दबी हुई चिनगारियां उनकी रचनाओं में झलक उठती हैं। रूमानियत, संशय और असमंजस के कुछेक उदाहरणों को छोड़ दिया जाए तो दिनकर की काव्ययात्रा का आरम्भिक चरण राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रेरणा लेते हुए उसी के समानान्तर विकसित होता है।

दिनकर की काव्य-यात्रा

इस उपअध्याय का उद्देश्य दिनकर की कृतियों से संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना है। दिनकर की पहली कविता 1924 में प्रकाशित हुई थी। यह कविता जबलपुर से प्रकाशित होने वाले मासिक-पत्र 'छात्र-सहोदर' में छपी, उस समय कवि की आयु लगभग सोलह वर्ष के आस-पास थी। 'पथिक' के अनुकरण पर 'वीर बाला' और 'जयद्रथ-वध' के अनुकरण पर दिनकर ने 'मेघनाद' खण्डकाव्य लिखने का प्रयास किया किंतु दोनों ही तीन-चार सर्गों से आगे नहीं बढ़ सके। दिनकर ने अपने काव्य-जीवन के आरंभ में मैथिलीशरण गुप्त को अपना आदर्श बनाया और उनकी काव्य-शैली को भी अपनाने का प्रयास किया इसीलिए उन्होने प्रबंध काव्यों में दिलचस्पी दिखाई, लेकिन मात्रात्मक दृष्टि से उनकी अधिकतर काव्य कृतियां मुक्तक शैली में ही हैं।

विजय-संदेश

दिनकर के काव्य जीवन को आरंभ करने वाली यह रचना 1928 में प्रकाशित हुई। यह रचना वास्तव में किशोर कवि की कृति है। इसका ऐतिहासिक महत्व बारदोली सत्याग्रह की उस सामयिक घटना के कारण है जिसका उल्लेख संभवतः अन्य साहित्यकारों ने नहीं किया।

'विजय-संदेश' की रचना बारदोली सत्याग्रह के संघर्ष और विजय की घटना को आधार बनाकर की गई थी। इसमें कुल ग्यारह कविताएं हैं। 17 पृष्ठों की यह छोटी सी काव्य-पुस्तिका है। ब्रिटिश उपनिवेश में भारतीय किसानों का शोषण जिस तरह से हो रहा था उससे देश भर किसान धीरे-धीरे संगठित हो रहे थे। जनवरी 1926 में जब पता चला कि लगान पुनरीक्षण अधिकारी ने अचानक 30 फीसदी की बढ़ोत्तरी की सिफारिश की है तो कांग्रेसी नेताओं ने इसका विरोध किया। इसके लिए बारदोली समिति का गठन हुआ जिसने जुलाई में जांच कर लगान बढ़ोत्तरी को अनुचित बताया। इसके बाद अखबारों ने इस पर लिखना आरंभ किया। कांग्रेसी नेता सरकार पर दबाव डालने के लिए लगान देना बंद कराना चाहते थे। कांग्रेस ने वल्लभभाई पटेल से आंदोलन के नेतृत्व की मांग की। वल्लभभाई पटेल गांधीजी के कई आंदोलनों में भाग ले चुके थे और कई सत्याग्रहों का सफलतापूर्वक नेतृत्व भी कर चुके थे। किसानों ने इस संघर्ष को पटेल जी के अनुसार आगे चलाया और सफलता प्राप्त की।

बारदोली की औरतों ने इस आंदोलन में वल्लभभाई पटेल को 'सरदार' की उपाधि दी। किसानों के संघर्ष की विजय गाथा ने दिनकर को प्रभावित किया, यह समय उपनिवेशी शासन का था और किसानों ने संघर्ष करके गवर्नर विल्सन के विरुद्ध विजय प्राप्त की थी, इससे किसी भी संवेदनशील, राष्ट्रवादी विचारों वाले व्यक्ति का उत्साहित और प्रेरित होना स्वाभाविक है। यह कृति बताती है कि बीस वर्ष की आयु में दिनकर किस तरह देश में घट रही घटनाओं को देख रहे थे।

प्रण-भंग

1929 में प्रकाशित 'प्रणभंग' दिनकर का पहला प्रकाशित खण्ड काव्य है। इसकी कथा महाभारत के एक छोटे से प्रसंग से ली गई है। महाभारत में जब भीष्म के आक्रमण के कारण अर्जुन संकट में पड़ जाते हैं तो शस्त्र न उठाने की अपनी प्रतिज्ञा को भूलकर कृष्ण रथ का पहिया लिए भीष्म की ओर दौड़ पड़ते हैं। कृष्ण के प्रणभंग को देखकर भीष्म मुस्कुराने लगते हैं। अर्जुन के प्रार्थना करने पर कृष्ण पुनः शांत होते हैं। यही 'प्रणभंग' की कथा का सार है। 1920 का असहयोग आन्दोलन उपनिवेशवाद के खिलाफ एक निर्णायक युद्ध की तरह आरम्भ

हुआ। इसने पूरे देश की जनता को आन्दोलित कर दिया, लेकिन 1922 में हिंसक घटनाओं के नाम पर गांधीजी ने इस आंदोलन को अचानक स्थगित कर दिया। इसके बाद असमंजस और उदासीनता का एक लम्बा दौर गुजरा। इस उदासीनता से बेचैन होकर दिनकर ने अहिंसा की इस कसम को तोड़ने का आह्वान 'प्रणभंग' के जरिये किया। आतताइयों से युद्ध में अहिंसा का मार्ग अपनाने की बात दिनकर को अटपटी लगती है। इस खण्डकाव्य की यह पंक्तियां इसकी प्रासंगिकता की ओर संकेत करती हैं और यह स्पष्ट करती हुई चलती हैं कि कवि के लिए देश का पुरूषार्थ मायने रखता है :

अपना अनादर देख कर भी आज हम जीते रहे।
चुपचाप कायर से गरल के घूंट यदि पीते रहे
तो वीर जीवन का कहां, रहता हमारा तत्व है ?
इससे प्रकट होता यही हममें न अब पुरुषत्व है।[50]

रेणुका

'रेणुका' का प्रकाशन 1929 से लेकर 1935 के बीच लिखी कुल 33 कविताओं के साथ 1935 ई. में हुआ। यह मुक्तक शैली में लिखा काव्य है। इसका एक महत्व तो यही है कि दिनकर ने स्वयं इसे अपने साहित्यिक जीवन का प्रस्थान बिंदु स्वीकार किया है।[51] इस संग्रह का आरंभ 'मंगल आह्वान' कविता से हुआ है। संग्रह की कविताओं को तीन खण्डों में विभाजित किया गया है। पहला खण्ड राष्ट्रीय चेतना से संपृक्त कविताओं का है, जिसमें विभीषिकाओं के दर्शन है ंतो क्रांतिमूलक राग भी उपस्थित है। दूसरे खण्ड की रचनाएं कवि की कला-चेतना से सिक्त हैं जिसमें उसका सौंदय एवं शृंगार बोध प्रस्तुत हुआ है। तीसरे खण्ड में सांसारिक ऐश्वर्य की क्षणभंगुरता तथा निस्सारता की कारुणिक व्यथा के अलावा वैभवशाली अतीत से संबंधित कविताएं हैं। कवि ने 'मंगल आह्वान' में ही इन तीनों कालों को ध्वनित करने का आभास दे दिया है :

दो आदेश, फूंक दूं शृंगी, उठे प्रभाती-राग महान,
तीनों काल ध्वनित हों स्वर में, जागें सुप्त भुवन के प्राण।[52]

इस संग्रह के पहले खण्ड की कविताएं स्पष्ट रूप से दिनकर की राष्ट्रीय चेतना को अभिव्यंजित करती हैं। वहीं दूसरे और तीसरे खंड श्रृंगार और वैराग्य की उन मनोदशाओं का संकेत करते हैं जिनपर अपने परवर्ती जीवन में दिनकर ने अनेकशः लिखा। औपनिवेशिक शासन के दमनचक्र से आह भरती जनता, सामंती प्रथा में जकड़े समाज द्वारा दलितों का शोषण, किसान, मजदूर एवं असहाय जनों के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक शोषण को अभिव्यक्ति प्रदान करती यह कविताएं कवि के युग-धर्म को प्रतिष्ठित करती हैं।

हुंकार

दिनकर के साहित्यिक-जीवन में जिस तरह 'रेणुका' का महत्व प्रस्थान बिंदु की तरह है, उसी प्रकार 'हुंकार' ने प्रमाणित कर दिया था कि उनके भावी काव्य की दिशा मूलतः राष्ट्रवाद से प्रभावित होगी। रामवृक्ष बेनीपुरी ने इस संग्रह की भूमिका में ही बता दिया था कि ''दिनकर के आगे का मैदान अभी उसी का है।''[53] 'हुंकार' की कविताओं का स्वभाव विद्रोही है। विषमता आधारित व्यवस्था ने मानवता के विकास को अवरुद्ध कर दिया है। विषमता से क्षुब्ध जनता का आक्रोश व्यक्त करती इन कविताओं में क्रांति का स्वर है। सामंतवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध जनाक्रोश को कवि ने क्रांति से जोड़ने का प्रयास किया है। 'हाहाकार' कविता आर्थिक शोषण की शिकार जनता का मार्मिक चित्रण करती है। 'स्वर्ग-दहन' कविता में कवि धरती से दूर बसे स्वर्ग (इंग्लैंड?) के दहन की बात करता है। इन प्रतीकों को वह सामंतवाद और साम्राज्यवाद के लिए बार-बार प्रयोग करता है। इस संग्रह में एक महत्वपूर्ण कविता 'असमय आह्वान' है। कवि ने अपने समय की मुख्य साहित्यिक धारा 'छायावाद' को छोड़ उस धारा को चुना जो युग-धर्म का वरण करने वाली है। हृदय की कोमल भावनाएं उसे सौंदर्य-भोग के लिए उकसाती हैं। उसे कविता कामिनी लुभाती है। वह असमंजस में पड़ा अभी विचार कर ही रहा है कि क्रांति-देवी उपस्थित होती है, विवश होकर वह बीन के तारों को तोड़-मरोड़ कर फेंक देता है और शंख फूंक कर भैरव-हुंकार करता है।[54]

रसवंती

'रसवंती' दिनकर की कोमल अनुभूतियों और सौंदर्य-बोध वाली कविताओं का संग्रह है। इस संग्रह का प्रथम संस्करण 1940 में पुस्तक भंडार, लहेरिसराय (बिहार) से प्रकाशित हुआ।

उन्नीस पृष्ठों की लंबी भूमिका में दिनकर ने संग्रह की कविताओं के अलावा साहित्यिक आंदोलनों, आलोचकों और कविता के भविष्य के संदर्भ में कई महत्वपूर्ण बातें की थीं। वर्तमान में रसवंती का जो संस्करण बाजार में उपलब्ध है, उससे भूमिका हटा दी गई है जबकि दिनकर की पुस्तकों की भूमिकाओं का अपना अलग महत्व होता है। भूमिका के आरंभ में ही कवि कहता है ''रेणुका' और 'हुंकार' के विपरीत 'रसवन्ती' की रचना निरुद्देश्य प्रसन्नता से हुई है और इसमें किसी निश्चित सन्देश का अभाव सा है। इन गीतों में मैं अपने हाथ से छूट-सा गया हूं और प्रायः अकर्मण्य आलसी की भांति उस प्रगल्भ अप्सरी के पीछे-पीछे भटकता फिरा हूं जिसे कल्पना कहते हैं।''[55]

रहे फिर तब से अनु-अनु देवि !
लुब्ध भिक्षुक-से मेरे गान''

कवि ने लिखा है

> संभव है, अपने अर्थ में मुझे प्रगतिशील समझने वाले कुछ पाठक 'रसवन्ती' से निराश भी हों। उनके आश्वासन के लिए मैं निवेदन करूंगा कि दिन-भर सूर्य के ताप में जलने वाले पहाड़ के हृदय में भी, चांदनी की शीतलता को पाकर, कभी-कभी बांसुरी का-सा कोई अस्पष्ट स्वर गूंजने लगता है, जो पत्थर की छाती को फोड़कर किसी-किसी जल-धारा के बह जाने की आकुलता का नाद है। रसवन्ती को मैं 'कुरूप पर्वत की बांसुरी' कहना चाहता था, लेकिन है यह 'दाह की कोयल' और 'धूप' में उड़ने वाली एक बूंद शबनम'![56]

शृंगारिक कविताओं के इस संकलन में नारी तथा सौंदर्यबोध से जुड़ी भावनाओं को प्रमुखता मिली है।

द्वंद्वगीत

द्वंद्वगीत का प्रकाशन 1940 में हुआ। द्वंद्वगीत' की भूमिका में दिनकर ने लिखा है कि ''इसके पहले पद सन् 1932 ई. में लिखे गए थे और प्रायः सन् 1939 ई. तक इसके पदों की कटाई-छंटाई और नए पदों की रचना चलती ही रही। इन वर्षों में मेरे अध्ययन, चिन्तन और अनुभूति का जो रूप रहा, 'द्वंद्वगीत' के पद, उसकी महीन खुशबू में बसे हुए हैं।'' परिवर्द्धित संस्करण (1950) में दिनकर ने इसमें बाद में लिखी गई कुछ और कविताएं भी इसमें जोड़

दीं। लम्बे अंतराल के दौरान लिखे जाने के चलते इसमें विषयगत वैविध्य भी दिखाई देता है और मनोभावों का परिवर्तन भी। इस संग्रह की अधिकांश रचनाएं मानसिक द्वंद्वों से संबंधित हैं जैसाकि इसके शीर्षक से भी प्रतीत होता है। सौंदर्य के प्रति प्रबल आकर्षण किन्तु साथ ही जीवन की नश्वरता का बोध कवि के मन में एक असमाधेय द्वंद्व पैदा करता है। 'दया न होगी हाय, प्रलय को इस सुन्दर मुखड़े पर भी/ जिसे देख हंसती है दुनिया उसे देख मैं रोता हूं।'[57]

डॉ. हरदयाल ने इस संग्रह की रचनाओं को 'द्वंद्व-खिन्न मनःस्थितियों की कविता' उचित ही कहा है। हालांकि यह भी गौरतलब है कि दिनकर ने अपनी रचनाओं में द्वंद्व का प्रयोग अक्सर एक प्रविधि के रूप में किया है। इस प्रविधि के जरिये वे पक्ष और विपक्ष दोनों तर्कों को प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत कर पाते हैं। इस पद्धति का प्रभावशाली प्रयोग 'कुरुक्षेत्र' और 'उर्वशी' में देखने को मिलता है।

कुरुक्षेत्र

मानवता के अभूतपूर्व संहार और मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियों का जो खौफनाक उद्घाटन द्वितीय विश्वयुद्ध ने दुनिया के सामने प्रस्तुत किया उसने तमाम साहित्यकारों और चिंतकों को युद्ध का प्रतिकार करने को बाध्य किया। विश्वयुद्ध की इसी पृष्ठभूमि ने 'कुरुक्षेत्र' (1946) का आधार तैयार किया। युद्धविरोधी कविता 'कलिंग विजय' (1941) लिखते हुए दिनकर को ये लगने लगा कि युद्ध केवल वर्तमान नहीं, बल्कि शाश्वत समस्या है और यह मनुष्य की सारी समस्याओं की जड़ है। युद्ध के बहुआयामी पहलुओं का विश्लेषण करने और उसे एक शाश्वत समस्या के रूप में प्रस्तुत करने के लिए मुक्तक काव्य का रूपबंध स्वाभाविक तौर पर अपर्याप्त था। देश की जनता की चेतना में भयंकरतम युद्ध के प्रतीक के रूप में बद्धमूल 'महाभारत' की कथा दिनकर को इसके लिए अनुकूल प्रतीत हुई। 'महाभारत' युद्ध की समाप्ति के बाद राज्यलोभ के प्रति युधिष्ठिर के मन का पश्चाताप और उसपर भीष्म का प्रत्युत्तर इस खंडकाव्य का उपजीव्य है। विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि पर विरचित अन्य रचनाओं से 'कुरुक्षेत्र' की भिन्नता इस बात में निहित है कि युद्ध को सिरे से निंदनीय मान लेने और शांति का उपदेश देने की बजाय दिनकर ने इस सवाल पर विचार किया कि युद्ध होता ही क्यों है? युद्ध क्या

केवल इसलिए होता है क्योंकि कुछ स्वार्थी (शासक) अपने हित के लिए युद्ध चाहते हैं अथवा इसलिए कि व्यापक धरातल पर जनता का असंतोष और (फलतः) युद्धोन्माद युद्ध को अपरिहार्य बना देता है? और यह भी कि ''उसका दायित्व किस पर होना चाहिए? उस पर जो अनीतियों का जाल बिछाकर प्रतिकार को आमंत्रण देता है? या उस पर, जो जाल को छिन्न-भिन्न कर देने के लिए आतुर है?''[58] दरअसल कुरुक्षेत्र उनके समग्र सामंतवाद विरोधी, उपनिवेशवाद विरोधी चिंतन का परिणाम है। इसमें समस्या के समाधान का कोई दावा नहीं किया गया है किंतु समस्या को निकट से समझने का प्रयास किया गया है। कारण का पता हो तो उचित समाधान तक पहुंचना आसान हो जाता है। दिनकर ने युद्ध के कारणों को ढूंढने में सफलता भी पाई है। वैचारिक संघर्ष में दिनकर इस परिणाम तक पहुंचते हैं कि युद्ध के दो ही कारण है या तो वह निजी हितों की सिद्धि के लिए होता है या फिर अन्याय, शोषण और अत्याचार से मुक्ति के लिए। कुरुक्षेत्र सनातनकाल से चली आ रही युद्ध की परंपरा का प्रतीक है। युधिष्ठर अहिंसा और सत्य का तथा भीष्म न्याय पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं।

सामधेनी

सामधेनी का प्रथम संस्करण **1947** में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में **1941** से लेकर **1946** के बीच स्वतंत्र रूप से रची गई इक्कीस कविताएं संग्रहीत हैं। इन कविताओं के रचनाकाल का अंतराल इस युग की कुछ बड़ी घटनाओं को अपने भीतर समेटे हुए है। भारत में सन् बयालीस का आंदोलन तथा फासीवाद के विरुद्ध विश्वयुद्ध में रूस समेत मित्र राष्ट्रों के गठबंधन की विजय इस दौर की सबसे मुख्य घटनाएं हैं। एक ओर विश्वयुद्ध में फासीवाद के विरुद्ध ब्रिटेन की मदद का आह्वान और दूसरी ओर स्वदेश की आजादी के लिए उसके किसी भी प्रस्ताव से संपूर्ण असहयोग की यह एक ऐसी अंतर्विरोधी स्थिति थी जिसमें हरेक को कोई न कोई पक्ष चुनना ही था। भारत की राजनीतिक स्थिति को व्यक्त करती 'आग की भीख' शीर्षक कविता उस संपूर्ण वातावरण का सजीव चित्रण प्रस्तुत करती है। 'दिल्ली और मास्को' कवि के वैचारिक पक्ष को स्पष्ट करने वाली कविता है। इस कविता में रूसी साम्यवादियों की विजय पर प्रसन्नता व्यक्त की गई है, लेकिन बयालीस के आन्दोलन में भारतीय साम्यवादियों की नकारात्मक भूमिका की दिनकर ने भर्त्सना की है। कवि के लिए भारत की पराधीनता कलंक का विषय थी और वह उसे किसी भी मूल्य पर स्वाधीन कराने का पक्षधर था। **1946**

में लिखी 'हे मेरे स्वदेश' नोआखाली शीर्षक कविता और बिहार के सांप्रदायिक दंगो पर आधारित है जिसमें हिन्दू-मुसलमान दोनो संप्रदायों को कवि ने भारत की दो आंखे बताया है।

बापू

दिनकर ने 1920 में गांधीजी को पहली बार देखा था। उनके सत्याग्रह आंदोलन में दिनकर ने हिस्सा भी लिया लेकिन कभी संपूर्णता में उन्हें अपने जीवन का आदर्श नहीं बना सके। गांधी को लेकर एक द्वंद्व दिनकर के मन में हमेशा रहा। उन्हें गांधी की (अहिंसावादी) पद्धति आकर्षित करती है, लेकिन लक्ष्य उन्हें मार्क्सवादियों के प्रिय लगते हैं। इसीलिए कभी-कभार उन्हें लगने लगता है कि अहिंसा का उपदेश एक छल है। बहरहाल, इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि दिनकर की काव्ययात्रा में किसी व्यक्ति का सर्वाधिक उल्लेख हुआ है तो वह गांधी ही हैं। आजादी की पूर्वबेला पर गांधी की वंदना में लिखी लम्बी कविता 'बापू' पुस्तिका रूप में जून 1947 में प्रकाशित हुई थी। जनवरी 1948 में गांधी की हत्या के बाद शोक व्यक्त करती दो और कविताएं 'वज्रपात' तथा 'अघटन घटना, क्या समाधान' दूसरे संस्करण में जोड़ दी गईं।

इतिहास के आंसू

इस संग्रह का प्रथम प्रकाशन 1951 में हुआ था। इसमें संकलित कविताओं का रचनाकाल 1932 से लेकर 1948 के मध्य का है। इन सभी कविताओं का संदर्भ ऐतिहासिक है। 'मगध महिमा' शीर्षक काव्य नाटिका को छोड़कर अन्य सभी रचनाए पूर्व प्रकाशित हैं। भारत के अतीत के साथ दिनकर के रागात्मक संबंधों को प्रस्तुत करने वाली ये कविताएं अतीत का गौरवगान करती हैं।

धूप और धुआं

इस संग्रह का प्रकाशन 1951 में हुआ। इस संकलन में 1947 से लेंकर 1951 के बीच लिखी कविताएं हैं। स्वराज्य से फूटने वाली 'धूप' और स्वाधीनता के बाद शासक वर्ग और पूंजीपतियों के गंठजोड़ से उत्पन्न भ्रष्टाचार के 'धुएं' को लक्षित कर कवि ने इन कविताओं की रचना की है। इस संग्रह में 'जनतंत्र का जन्म' और 'भारत का आगमन' सरीखी आशावादी कविताएं हैं, तो वहीं 'पंचतिक्त' और 'मरघट की धूप' जैसी मोहभंग की कविताएं भी हैं।

आजादी के चार वर्षों के अन्दर ही इस तरह की कविताओं का लिखा जाना इस बात का संकेत है कि कवि अपने प्रिय नायकों की नीतियों को कितनी आलोचनात्मक निगाह से देख रहा था।

रश्मिरथी

'रश्मिरथी' 1952 में प्रकाशित हुई। प्रकाशन क्रम के अनुसार यह दिनकर की दूसरी प्रबंध-काव्य कृति है। इसकी भूमिका में कवि ने लिखा है कि ''बात यह है कि 'कुरुक्षेत्र' की रचना कर चुकने के बाद ही मुझमें यह भाव जगा कि मैं कोई ऐसा काव्य भी लिखूं जिसमें केवल विचारोत्तेजना ही नहीं, कुछ कथा-संवाद और वर्णन का भी महात्म्य हो।''[59] 'रश्मिरथी' की कथा का मूल आधार 'महाभारत' है, परंतु कथा का नायक यहां 'कर्ण' है। दिनकर का मानना है कि यह युग दलितों, उपेक्षितों के उद्धार का है। कर्ण के जीवन की त्रासदी इस कथा की मेरूदंड है। अपमानजनक और भेदभावपूर्ण परिस्थितियों में कर्ण का अनथक संघर्ष उसके चरित्र को उदात्तता के शिखर पर पहुंचा देता है। जाति के प्रश्न के साथ-साथ यह रचना कर्ण के माध्यम से विवाह के दायरे के बाहर जन्म लेने वाले 'अवैध' बच्चों की समस्या को भी उठाती है। इस तरह के मामलों में दंड केवल संतान ही नहीं, उसकी मां भी भोगती है। कर्ण-कुन्ती संवाद के जरिये दिनकर ने इस समस्या को बड़ी मार्मिकता से उठाया है। आज स्त्री विमर्श के दौर में यह रचना पुनर्मूल्यांकन की मांग करती है।

नीम के पत्ते

इस कृति का प्रकाशन 1954 ई. में हुआ। 'रोटी और स्वाधीनता', 'पहली वर्षगांठ', 'पंचतिक्त' और 'जनता' जैसी कविताएं दिनकर के जनवादी विचारों को समझने में सहायक हैं। संग्रह की कविताएं आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सामाजिक न्याय के समत्व के साथ ही विचारों और अभिव्यक्ति की आजादी जैसे लोकतांत्रिक मूल्यों को प्रतिष्ठित किये जाने की मांग करती है। शासक वर्ग और उसके निकट समाज के शक्तिशाली वर्ग द्वारा भ्रष्टाचार का आचरण लोकतांत्रिक व्यवस्था को किस प्रकार दूषित कर रहा है, उसकी तथ्यपरक आलोचना इस संग्रह की विशिष्टता है।

दिल्ली

अगस्त 1954 में प्रकाशित इस कृति में कवि की चार कविताएं हैं। 'नई दिल्ली के प्रति' और 'दिल्ली और मास्को' की रचना स्वतंत्रता से पूर्व हो चुकी थी जबकि 'हक की पुकार' और भारत का यह रेशमी नगर' स्वतंत्रता के पश्चात की रचनाएं हैं। अंतिम दोनों रचनाएं जनहितों को भूले हुए देश के कर्णधारों पर तीक्ष्ण व्यंग्य के साथ ही देश की दुर्दशा को लेकर पूंजीपतियों, सरकार और उसकी नीतियों की कटु आलोचना है।

नीलकुसुम

दिसंबर 1954 में प्रकाशित 'नील कुसुम' दिनकर की काव्य सर्जना में हो रहे परिवर्तन को दर्शाता एक ऐसा महत्वपूर्ण संग्रह है। इस बदलती भंगिमा को अभिव्यंजित करती पंक्तियां 'गीतों से फिर चट्टान तोड़ता हूं साथी/झुरमुटें काट आगे की राह बनाता हूं'[60] स्पष्ट करती हैं कि कवि 'राष्ट्र-देवता का विसर्जन कर अब कुछ नया करने वाला है। व्याल-विजय, जनतंत्र का जन्म, कांटों का गीत, नींव का हाहाकार, भूदान, कवि और समाज, किसको नमन करूं मैं? जैसी कविताएं इस संग्रह को महत्वपूर्ण बनाती हैं।

उर्वशी

यह दिनकर की तीसरी और अंतिम प्रबंध रचना है जो 1961 में प्रकाशित हुई थी। गीति-नाट्य शैली में सृजित यह कृति दिनकर की महत्वाकांक्षी शृंगारिक रचना है। 'उर्वशी' के कथानक-सूत्र भारतीय संस्कृति-साहित्य के केलि-कुंञ्जों में पड़े हुए थे जिसकी सुगंध ने दिनकर को आकर्षित किया। 'उर्वशी' की रचना में निहित उद्देश्य का उल्लेख करते हुए दिनकर ने भूमिका में लिखा है कि

> मेरी दृष्टि में पुरूरवा सनातन नर का प्रतीक है और उर्वशी सनातन नारी का।... नारी नर को छूकर तृप्त नहीं होती, न नर नारी के आलिंगन में संतोष मानता है। कोई शक्ति है जो नारी को नर तथा नर को नारी से अलग रहने नहीं देती, और जब वे मिल जाते हैं, तब भी, उनके भीतर किसी ऐसी तृषा का संचार करती है, जिसकी तृप्ति शरीर के धरातल पर अनुपलब्ध है।[61]

काम, प्रेम और अध्यात्म (या दूसरे शब्दों में शरीर, मन और आत्मा) के संबंधों पर इतनी विशद दृष्टि से हिन्दी साहित्य में पहले कभी विचार नहीं किया गया था। उर्वशी के प्रकाशन ने हिन्दी जगत में हलचल मचा दी। राष्ट्रवादी दिनकर का यह उद्दाम श्रृंगारिक रूप भी अनपेक्षित सा था। इस रचना पर पक्ष-विपक्ष में इतनी प्रतिक्रियाएं आईं कि 'कल्पना' पत्रिका ने 'उर्वशी विवाद' पर केन्द्रित एक अंक ही निकाल दिया। इस विवाद में डॉ.रामविलास शर्मा और मुक्तिबोध जैसे मूर्धन्य लेखक भी शामिल थे। बहरहाल, 'उर्वशी' में विन्यस्त इस मान्यता से शायद ही किसी को कोई ऐतराज हो कि काम अपने आप में पाप या पुण्य नहीं है, यह तो प्रेम है जो काम को भी एक दिव्य आभा से भर देता है। दिनकर की यह श्रृंगारिक रचना हिन्दी साहित्य की महत्वपूर्ण कृतियों में स्वीकार की गई, जिसके लिए उन्हें 1973 में ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

परशुराम की प्रतीक्षा

'परशुराम की प्रतीक्षा' का प्रकाशन 1963 में हुआ। चीन के आक्रमण से बौखलाए और क्रुद्ध देश की मनःस्थितियों को कवि ने इस संकलन में अंकित कर दिया है। 546 पंक्तियों की लम्बी कविता 'परशुराम की प्रतीक्षा' समेत इस संग्रह में कुल 18 कविताएं हैं जिनमें 15 नई कविताएं शामिल हैं। प्रायः सभी कविताओं का स्वर युद्ध आह्वान का है। दिनकर ने देश के आक्रोश को व्यक्त करने के लिए जिस नायक की खोज की वह परशुराम हैं। परशुराम पौराणिक पात्र हैं किंतु उनका स्मरण करते ही एक क्रुद्ध योद्धा की छवि उभरती है, इसी वैशिष्ट्य को अभिव्यंजित करने के उद्देश्य से दिनकर ने उन्हें इस रचना का नायक बनाया है। दिनकर ने परशुराम के चरित्र का उपयोग इससे पूर्व 'रश्मिरथी' में किया था, किंतु परशुराम के दोनों चरित्रों में बुनियादी अंतर हैं। 'रश्मिरथी' का परशुराम वर्ण-व्यवस्था का पोषक है, क्षत्रियों का विरोधी है। उसकी शिक्षा का लाभ केवल ब्राह्मण ही उठा सकता है, अन्य कोई नहीं। किंतु 'परशुराम की प्रतीक्षा' का परशुराम भारतीय जातीयता का प्रतीक है। वह क्रुद्ध भारत का प्रतिनिधित्व करने वाला नायक है। दिनकर ने इसका परिचय कुछ इस प्रकार दिया है -

विक्रमी रूप नूतन अर्जुन जेता का,
आ रहा स्वयं यह परशुराम त्रेता का।

यह उत्तेजित, साकार, क्रुद्ध भारत है
यह और नहीं कोई विशुद्ध भारत है।[62]

इस संग्रह की कई कविताओं में युद्धोन्माद का स्वर प्रतीत होता है। 'आपद्धर्म' शीर्षक कविता में पागलपन को श्रेयस्कर बताते हुए दो टूक शब्दों में कहा गया है कि 'समर हारने से बढ़कर घातक न दूसरा पाप है।'[63] हालांकि यह भी आवेशपूर्ण उद्घोषणा थी और अपनी परवर्ती रचनाओं में दिनकर पुनः संतुलित रूप अपनाते दिखाई देते हैं। फिर भी जिन लोगों को 'उर्वशी' पढ़कर आघात लगा था कि दिनकर ने अपना तेज खो दिया है, उन्हें इस संग्रह ने पुनः आश्वस्त कर दिया।

कोयला और कवित्व

1964 में प्रकाशित 'कोयला और कवित्व' एक अलग मिजाज का संग्रह है। इसमें पिछले कुछ वर्षों में लिखी गई 39 कविताएं संकलित हैं, अधिकांश कविताएं सन् साठ के बाद की हैं। इस संग्रह में सबसे ज्यादा चौंकाने वाली चीज है छंद परिवर्तन। जीवन भर छंदबद्ध तुकांत कविताएं लिखने वाले दिनकर ने इस संग्रह में सर्वत्र अतुकांत मुक्तछंद का प्रयोग किया है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' के अगले ही वर्ष प्रकाशित इस संकलन की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें युद्धोन्माद से संबंधित एक भी कविता नहीं है, बल्कि 'कोयला और कवित्व' शीर्षक कविता में राष्ट्रवाद की तुलना पशुधर्म से की गई है। 'कुरुक्षेत्र' सरीखी शुष्क बौद्धिकता और 'हुंकार' अथवा 'परशुराम की प्रतीक्षा' सरीखे आक्रोश और भावुकता की बजाय 'कोयला और कवित्व' की कविताओं में भावना और चिन्तन का सुरुचिपूर्ण समन्वय दिखाई पड़ता है। भाव और आकार दोनों ही दृष्टियों से संग्रह की कविताओं में वैविध्य है। इसमें प्रकृति और सौंदर्य से संबंधित कविताएं हैं तो 'बोरीस पास्तरनाक', 'कला और कर्त्तव्य' तथा 'कोयला और कवित्व' जैसी कविताओं में साहित्य की राजनीति पर भी टिप्पणियां हैं। जहां 'दर्द', 'वायु' और 'आंसू' जैसी अति लघु आकार (तीन, चार और पांच पंक्तियों) की कविताएं इस संग्रह में हैं, वहीं 'दिनचर्या' तथा 'कोयला और कवित्व' (क्रमशः 8 एवं 13 पृष्ठ) जैसी लम्बी कविताएं भी इसमें शामिल हैं। इस संग्रह की कुछ कविताओं में थकान और अवसाद की भी झलक मिलती है जो 'हारे को हरिनाम' शीर्षक अगले संग्रह में और प्रगाढ़ रूप में प्रकट हुई है।

हारे को हरिनाम

1970 में प्रकाशित 'हारे को हरिनाम' दिनकर का अंतिम मौलिक संग्रह है। इस संग्रह की कविताएं विशेष चर्चित नहीं हुईं। हालांकि रामविलास शर्मा जैसे मूर्धन्य आलोचकों ने उसकी प्रशंसा की थी। इस संग्रह की चर्चा दिनकर के बदले हुए पराजित रूप और आस्तिकता के कारण ही अधिक हुई है। दिनकर ने भूमिका में खुद को पराजित बताते हुए इन कविताओं को एक तरह की विवशता की अभिव्यक्ति बताया है। संग्रह की कविताओं में अवसाद, वैराग्य और मृत्युबोध का अंश अधिक है। पंक्तियां छोटी-छोटी हैं, छंद भी छोटे और अधिकांश कविताएं भी छोटे आकार की हैं।

उक्त मौलिक काव्य संग्रहों के अलावा दिनकर के कुछ अन्य संग्रह भी हैं। 'चित्तौड़ का साका' (1949), 'मिर्च का मजा' (1951) और 'सूरज का ब्याह' (1955) बाल साहित्य के अंतर्गत हैं। 'धूप छांह' (1946) में कुछ मौलिक तथा कुछ अनूदित कविताएं हैं। 'सीपी और शंख' (1957) विभिन्न कवियों की रचनाओं का सृजनात्मक अनुवाद है तो 'आत्मा की आंखें' (1964) तथा 'चेतना की शिखा' क्रमशः डी.एच.लॉरेंस तथा योगी अरविन्द की अनूदित कविताओं के संग्रह हैं। 'नये सुभाषित' (1957) अवकाश के क्षणों में रचे पदों का संग्रह है। 'कविश्री' (1957), 'दिनकर की सूक्तियां' (1965), 'दिनकर के गीत' (1973) 'चक्रवाल' (1954), 'संचयिता' (1973) तथा 'रश्मिलोक' (1974) अपने विपुल लेखन से स्वयं दिनकर द्वारा चयनित प्रतिनिधि संकलन हैं।

संदर्भ

[1] डा.रमारानी सिंह, दिनकर साहित्य में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति, अमित प्रकाशन, गजियाबाद, 1984, पृष्ठ 40
[2] गोपाल राय तथा सत्यकाम (सं.), दिनकर : व्यक्तित्व और रचना के आयाम, सुहानी बुक्स, 2009, पृष्ठ 22
[3] वही, पृष्ठ 21
[4] शिवसागर मिश्र, दिनकरः एक सहज पुरूष, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1981, पृष्ठ 17
[5] वही, पृष्ठ 17-18
[6] डा.राजेश्वर प्रसाद सिंह, रामधारी सिंह दिनकर : पालने से चिता तक, पूर्वोक्त, पृष्ठ 22
[7] विजेन्द्र नारायण सिंह, रामधारी सिंह दिनकर, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, संस्करण 2008, पृष्ठ 7
[8] डा.राजेश्वर प्रसाद सिंह, रामधारी सिंह दिनकर : पालने से चिता तक, पूर्वोक्त, पृष्ठ 24
[9] विजेन्द्र नारायण सिंह, रामधारी सिंह दिनकर, पूर्वोक्त, पृष्ठ 7
[10] डा.राजेश्वर प्रसाद सिंह, रामधारी सिंह दिनकर : पालने से चिता तक, पूर्वोक्त, पृष्ठ 24
[11] वही, पृष्ठ 20
[12] विजेन्द्र नारायण सिंह, रामधारी सिंह दिनकर, पूर्वोक्त, पृष्ठ 8
[13] कन्हैयालाल फूलफगर (संपादक),शेष-निःशेष, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1985, पृष्ठ 425
[14] शिवसागर मिश्र, दिनकरः एक सहज पुरूष, पूर्वोक्त, पृष्ठ 18-19
[15] वही, पृष्ठ 18-19
[16] कन्हैयालाल फूलफगर (संपादक), दिनकर के पत्र, दिनकर शोध संस्थान, कलकत्ता, 1981, पृष्ठ 209-10
[17] कुमार विमल (संपादक), रामधारी सिंह दिनकर रचना संचयन, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ 49
[18] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, लोकभारती, इलाहाबाद, 2005, भूमिका, पृष्ठ 8
[19] कन्हैयालाल फूलफगर (संपादक), दिनकर के पत्र, पूर्वोक्त, पृष्ठ 61
[20] वही, पृष्ठ 58
[21] मन्मथनाथ गुप्त, आज के लोकप्रिय कवि दिनकर, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 1993, पृष्ठ 19
[22] वही, पृष्ठ 24
[23] कन्हैयालाल फूलफगर (संपादक), दिनकर के पत्र, पूर्वोक्त, पृष्ठ 15
[24] वही, पृष्ठ 253
[25] सावित्री सिन्हा, युगचारण दिनकर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1963, पृष्ठ 46-47
[26] रामधारी सिंह दिनकर, संचयिता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ 19
[27] रामधारी सिंह दिनकर, पंत प्रसाद और मैथिलीशरण, लोकभारती, इलाहाबाद, 2009, पृष्ठ 9
[28] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती, इलाहाबाद, 2008, पृष्ठ 454
[29] रामधारी सिंह दिनकर, रेती के फूल, श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना, 1954, पृष्ठ 92
[30] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पूर्वोक्त, पृष्ठ 457 तथा 460
[31] वही, पृष्ठ 470
[32] देखें, संस्कृति के चार अध्याय (पूर्वोक्त) में परमहंस रामकृष्ण तथा विवेकानन्द पर केन्द्रित अध्याय
[33] उदाहरण के लिएः 'हृदय देखता उसे, तर्क से/ बुद्धि न जिसे समझती है।' रामधारी सिंह दिनकर, द्वंद्वगीत, लोकभारती, इलाहाबाद, 2009, पृष्ठ 99
तथा 'रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी/ क्योंकि बुद्धि सोचती और शोणित अनुभव करता है।' रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, लोकभारती, इलाहाबाद, 2006, पृष्ठ 45
[34] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पूर्वोक्त, पृष्ठ 499
[35] रामधारी सिंह दिनकर, रेती के फूल, पूर्वोक्त, पृष्ठ 93

[36] वही, पृष्ठ 94
[37] रामधारी सिंह दिनकर, पंत प्रसाद और मैथिलीशरण, पूर्वोक्त, पृष्ठ 18
[38] रामधारी सिंह दिनकर, रेती के फूल, पूर्वोक्त, पृष्ठ 95
[39] वही, पृष्ठ 95
[40] वही, पृष्ठ 99
[41] डॉ. शम्भुनाथ, धूपछांही दिनकर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ 117 पर उद्धृत
[42] कुमार विमल (संपादक), रामधारी सिंह दिनकर रचना संचयन, पूर्वोक्त, पृष्ठ 25
[43] वही, पृष्ठ 31
[44] आधुनिक भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, बिपन चंद्र, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2011 पृष्ठ 208
[45] अयोध्या सिंह, समाजवाद : भारतीय जनता का संघर्ष, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 2007, पृष्ठ 175
[46] रामधारी सिंह दिनकर, इतिहास के आंसू, उदयाचल, पटना, 1955, पृष्ठ 49
[47] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005, पृष्ठ 15
[48] वही, पृष्ठ 21
[49] रामधारी सिंह दिनकर, सामधेनी, अनुपम प्रकाशन, पटना, 2005, पृष्ठ 15
[50] रामधारी सिंह दिनकर, प्रणभंग तथा अन्य कविताएं, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1997, पृ.13
[51] रामधारी सिंह दिनकर, चक्रवाल, अनुपम प्रकाशन, पटना, 2005, पृष्ठ 36
[52] रामधारी सिंह दिनकर, रेणुका, उदयाचल, पटना, 1979, पृष्ठ 6
[53] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, पूर्वोक्त, पृष्ठ 14
[54] वही, पृष्ठ 26
[55] रामधारी सिंह दिनकर, रसवंती, पुस्तक भंडार, लहेरियासराय, बिहार, 1940, भूमिका
[56] वही, पृष्ठ 2
[57] रामधारी सिंह दिनकर, द्वंद्वगीत, पूर्वोक्त, पृष्ठ 64
[58] रामधारी सिंह दिनकर, कुरुक्षेत्र, राजपाल एंड सन्ज, दिल्ली, संस्करण 2007, पृष्ठ 3,
[59] रामधारी सिंह दिनकर, रश्मिरथी, उदयाचल प्रकाशन, पटना, 2008, भूमिका, पृष्ठ 'क'
[60] रामधारी सिंह 'दिनकर', नील कुसुम, उदयाचल प्रकाशन, पटना, अगस्त 2001, पृष्ठ 92
[61] रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, लोकभारती, इलाहाबाद, 2006, भूमिका, पृष्ठ 'ख'
[62] रामधारी सिंह दिनकर, परशुराम की प्रतीक्षा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृष्ठ 21
[63] वही, पृष्ठ 52-53

अध्याय दो

दिनकर के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक चेतना

परम्परा बनाम आधुनिकता

व्यक्ति और समाज

धर्म और साम्प्रदायिकता

सामाजिक न्याय का प्रश्न और जातिवाद

लैंगिक समानता और स्त्री प्रश्न

परम्परा बनाम आधुनिकता

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा के कवि होने के नाते दिनकर की रचनाओं में ऐतिहासिक-पौराणिक घटनाएं व पात्र तथा सांस्कृतिक मिथक और प्रतीक प्रायः आते हैं। इन तत्वों के प्रयोग में बड़ी सावधानी व संतुलन की आवश्यकता होती है क्योंकि जहां इनके प्रयोग से काव्य की संप्रेषणीयता और प्रभाव में वृद्धि होती है, वहीं यह खतरा भी बना रहता है कि कहीं कवि अतीत के मोह का शिकार होकर पुनरुत्थानवादी न बन जाए या मिथकों-प्रतीकों में निहित पारम्परिक अर्थ कवि के इच्छित आधुनिक संदेश पर हावी न हो जाएं। अतीत के प्रति लगाव और भविष्योन्मुखी होने का दबाव जिस द्वंद्व की सृष्टि करता है, वही परम्परा और आधुनिकता का द्वंद्व है। परम्परा ने दिनकर के काव्य को कितना समृद्ध किया और उनकी रचनाशीलता में यह द्वंद्व किस सीमा तक प्रकट हुआ है, इस द्वंद्व की परिणतियां क्या रही हैं इन प्रश्नों का उत्तर तलाशने का प्रयास हम इस उप-अध्याय में करेंगे। लेकिन उसके पहले आधुनिक मनुष्य के लिए परम्परा की जरूरत और आधुनिकता से उसके द्वंद्व की प्रकृति को समझ लेना उपयोगी होगा।

अपनी प्रवृत्तियों से संचालित पशु प्राकृतिक जीवन जीते हैं किन्तु मनुष्य के जीवन का अधिकांश संस्कृति से संचालित होता है। इसीलिए संस्कृति को मनुष्य की 'दूसरी प्रकृति' भी कहा जा सकता है। इस संस्कृति के निर्माण में अतीत की भूमिका होती है तो वहीं वर्तमान उसमें बदलाव की भूमिका निभाता है। आज जो कुछ प्राचीन अथवा अतीत के रूप में जाना या समझा जाता है वह कभी वर्तमान भी रह चुका है और वह अपने-आप में कभी अद्यतन भी रहा है। आज जिसे हम अपना वर्तमान समझ रहे हैं और जिसे चैतन्यता के आधार पर आधुनिकता से जोड़ते हैं, इस वर्तमान और आधुनिकता को भविष्य में अतीत और पुरातन हो जाना है। आज का अर्जित आधुनिकबोध भविष्य के लिए पर्याप्त नहीं होगा, उसे फिर से अपने वर्तमान के अनुरूप खुद को अद्यतन करना पड़ेगा। कालान्तर से वर्तमान के अतीत बन जाने से अर्जित किया गया ज्ञान मूल्यहीन नहीं हो जाता बल्कि नवीन ज्ञान और नवीन जीवन मूल्यों के साथ जुड़कर परम्परा में प्रवाहित होता रहता है।

परम्परा और आधुनिकता में विरोध की स्थिति केवल तब पैदा होती है, जब कोई प्रचलित गतिविधि, विश्वास या विचार जीवन की विकासमान धारा के साथ अपना नवीकरण नहीं कर पाता। ऐसी स्थिति में वह एक रूढ़ि बन जाता है और जीवन की गति को बाधित करने लगता है। तब यथास्थितिवादी तबके अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए 'प्राचीनता' और 'परम्परा' के नाम पर उसे कर्मकांड में बदल देते हैं। ऐसी स्थिति में परिवर्तन चाहने वाले तबकों के लिए उससे टकराना अनिवार्य हो जाता है। आमतौर पर प्रगतिशील सोच रखने वाले लोग ऐसी रूढ़ियों को नष्ट कर देना ही श्रेयस्कर मानते हैं। ऐसी अमानवीय परम्पराओं के प्रसंग में दिनकर बिल्कुल निर्द्वंद्व हैं। 'जवानियां' शीर्षक कविता में वे खुद युवकों का आह्वान करते हैं कि वे आगे बढ़कर इन परम्पराओं को आग में झोंक दें 'उठो उठो कुरीतियों की राह तुम भी रोक दो/ बढ़ो बढ़ो कि आग में अनीतियों को झोंक दो/ परम्परा की होलिका जला रही जवानियां।'[1] लेकिन रूढ़ि और परम्परा में बहुत फर्क है। जहां अतीत की संस्कृति का अप्रासंगिक अंश रूढ़ि कहलाता है, वहीं उसका जीवंत अंश ही परम्परा के रूप में ग्राह्य होता है।

परम्पराओं का निर्माण सभ्यता और संस्कृति के स्तर पर होने वाली उन जटिल प्रक्रियाओं से होता है जिसमें खान-पान, रहन-सहन, संस्कार, रीति-रिवाज, आस्था-विश्वास, आदर्शमूलक जीवन-मूल्यों आदि की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। परम्परा किसी भौगोलिक सीमा के अन्तर्गत सांस्कृतिक धरातल पर वर्तमान को अपने अतीत से हस्तांतरित होने वाले जातीय संस्कार हैं जिसमें सामाजिक-राजनैतिक संघर्ष और उपलब्धियां सन्निहित होती हैं। ये युगानुरूप अपनी सकारात्मक गतिशीलता से जीवन्त बनी रहती हैं। अतीत से प्राप्त होने वाली परम्परा वर्तमान में आधुनिकता की पृष्ठभूमि का भी निर्माण करती है। हमारे कला-साहित्य भी इन परम्पराओं के संवाहक है। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास के कितने ही पात्र हमारे इतिहास के पात्र हैं और उनकी केन्द्रीय समस्याएं इतिहास की समस्याएं हैं। रचनाकार अपनी युगीन-समस्याओं का समाधान करने के लिए अतीत और वर्तमान से अर्जित ज्ञान को आधार बनाता है। युग-परिवेश के साथ ही युगीन-बोध में भी परिवर्तन हुआ करता है, यह परिवर्तन ही बौद्धिक द्वंद्व को जन्म देता है।

दिनकर की कविता में द्वंद्व एक विशिष्ट तत्व की तरह उपस्थित है। प्राचीनता और आधुनिकता का द्वंद्व कवि के परम्पराबोध और आधुनिकबोध से उत्पन्न वह तनाव है जिसे वह अपने युग-धर्म के अनुसार स्वीकार अथवा अस्वीकार कर निष्कर्ष तक पहुँचता है। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी के अनुसार ''दिनकर ने भारतीय इतिहास, दर्शन इत्यादि का गहरा अध्ययन किया था। इस व्यापक और गंभीर अध्ययन ने उनको कुछ निष्कर्ष प्रदान किए थे। वे निष्कर्ष और विचार उनकी कविताओं में बिखरे पड़े हैं।''[2] उनके गंभीर अध्ययन की व्यापकता का अनुमान इस बात से लगा सकतें हैं कि उनका परम्परा बोध जहाँ भारतीय साहित्य, सभ्यता और संस्कृति से विकसित हुआ था वहीं आधुनिकबोध समकालीन भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यकारों, इतिहासकारों और दार्शनिकों के साहित्य एवं सान्निध्य से विकसित हुआ। उनके प्रबन्ध काव्यों में एक महत्वपूर्ण बात यह भी रही है कि प्राचीन काव्यों के कथानक की अलौकिकता को उन्होंने सहज और मानवीय स्वरूप प्रदान करते हुए परिस्थितिजन्य कारण-कार्य-परिणाम सिद्ध किया है। प्रभु की अलौकिकता भी उनके यहा सहज मानवीय स्वभाव के रूप में ही प्रकट हुई है। उन्होंने कथानक और चरित्रों के सकारात्मक और नकारात्मक पक्षों और उनके द्वंद्व को स्पष्ट करने का प्रयास भी किया है।

दिनकर के साहित्य में प्राचीनता के प्रति विशेष आग्रह रहा है, विशेषतः कविता में। महाभारत की कथा उनके 'प्रणभंग', 'कुरूक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' जैसे काव्य संग्रहों की प्रेरक पृष्ठभूमि तो रही ही है। उनकी महत्वपूर्ण काव्य कृति 'उर्वशी' का उपजीव्य भी 'पद्म पुराण', 'ब्रह्म पुराण' आदि पौराणिक कथानक हैं। अतीत के सम्मोहन का प्रभाव मुक्तक कविताओं पर भी दिखाई देता है, चाहे वे उनके प्रारम्भिक काव्य संग्रहों 'रेणुका', 'हुंकार', 'सामधेनी' की कविताएं हों अथवा स्वतंत्रता के पश्चात आने वाले काव्य संग्रहों 'दिल्ली', 'नील कुसुम', 'इतिहास के आंसू' या फिर 'परशुराम की प्रतीक्षा' आदि की कविताएं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि किसी न किसी भांति अपने अतीत से जुड़ा हुआ है चाहे वह जुड़ाव परम्परा और संस्कृति का पोषण करने के लिए रहा हो अथवा वर्तमान की समस्या के समाधान हेतु। निःसन्देह दिनकर का अपनी परम्परा और संस्कृति से गहरा लगाव रहा है। भारतीय परम्परा और संस्कृति के प्रति यह आस्था उनकी कविता में विकसित होकर एक सजग साहित्यकार के दायित्व के प्रति उन्हे प्रतिबद्ध करती है। अतीत के प्रति आकर्षण उनके युग-परिवेश की मांग

भी रही। कोई भी साहित्यकार जिसे उसके वर्तमान के संघर्षपूर्ण वातावरण की वेदना विचलित करती है, परम्पराबोध का उपयोग अपने दायित्व का निष्ठापूर्वक निर्वाह करने के लिए करता ही है। लेकिन यह ध्यान देने योग्य बात है कि द्विवेदी युग जैसी इतिवृत्तात्मकता उनके काव्य की सीमा कभी नहीं बनने पायी।

दिनकर की कविता परम्परा और आधुनिकता के मध्य सेतु का कार्य करती है जिसका एक सिरा तो अतीत की ओर है और दूसरा वर्तमान की ज्वलंत विभीषिकाओं से सराबोर है। कवि अपने वर्तमान को संकट से उबारने के लिए कभी विषयों, घटनाओं, कथा-भावों, कथा-पात्रों को उस ओर से इस ओर ले आता है तो कभी वर्तमान को परखने के लिए अतीत को खंगालने लगता है। इसी प्रकार इतिहास के प्रति उनकी अभिरुचि उनके साहित्य में निरन्तर दिखाई देती है। उनका काव्य साहित्य तो इतिहास से प्रभावित हुआ ही है, गद्य-साहित्य में कवि की ऐतिहासिक दृष्टि से कहीं अधिक एक इतिहास के अध्येता की इतिहास दृष्टि को परिलक्षित होते देखा जा सकता है। अपनी परम्परा, संस्कृति और इतिहास के प्रति यह अगाध प्रेम कवि के प्रबन्ध काव्यों से लेकर मुक्तक कविताओं में जब-तब देखने को मिलता है।

'प्रणभंग' की चर्चा करते हुए डॉ. जयसिंह 'नीरद' ने लिखा है कि ''अपनी समग्रता में 'प्रणभंग' एक परम्परा बद्व काव्य है। न केवल कथा स्रोतों की दृष्टि से बल्कि उन कथा-स्रोतों के प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से भी।''[3] लेकिन 'प्रणभंग' की रचना परम्पराबद्व होते हुए भी एक नवीन दृष्टिकोण लिए हुए है। वाल्मीकि की रामकथा से भवभूति की रामकथा में दृष्टिकोण की जो भिन्नता आई है, वह परिवर्तन भवभूति के युग-सापेक्ष आधुनिक-बोध का परिणाम है। ऐसे में भवभूति के आधुनिकबोध को कथा-स्रोत के आधार पर निरस्त नहीं किया जा सकता है। दिनकर का 'प्रणभंग' कथा-स्रोत और कथानक के आधार पर भले ही परम्पराबद्ध हो लेकिन अपने निष्कर्ष में युग-सापेक्ष है।

'प्रणभंग' के सृजनात्मक औचित्य पर यदि विचार करें तो राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में गांधी के प्रथम असहयोग आन्दोलन (1919-22) के संघर्ष और उसके परिणाम को जनता ने भी देखा और कवि ने भी। संघर्ष की गांधीवादी नियति देखकर ब्रिटिश साम्राज्य के अत्याचार सहन करती जनता और संघर्ष कर रहे क्रांतिकारी नवयुवकों का मोहभंग हो गया था। कवि देश का नेतृत्व कर रहे गांधी के 'अहिंसा' प्रण और उसके औचित्य को लेकर चिन्तामग्न है, उसके

सामने आततायी कोई और नहीं ब्रिटिश साम्राज्य है जिसने हिंसात्मक नीतियों के सहारे कई देशों को अपना उपनिवेश बना डाला है। जिसके समक्ष अहिंसा, नैतिकता और आत्म-बल का कोई अर्थ न हो उससे अहिंसावादी नीतियों के सहारे जनता अपने अधिकार कैसे वापिस ले पाएगी? महाभारत एक धर्मयुद्ध था लेकिन यहां ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध भारत की जनता धर्मयुद्ध नहीं बल्कि अपने अस्तित्व के लिए लड़ रही है और शत्रु भी ऐसा जिसके लिए नैतिकता और नीतियों का कोई अर्थ नहीं, ऐसे में 'अहिसा' के प्रण को कवि औचित्यपूर्ण नहीं ठहरा पा रहा। 'प्रणभंग' के वर्णन की पृष्ठभूमि में कवि को यह प्रश्न कहीं न कहीं मथ रहा था कि अहिंसा के द्वारा किस धर्म की रक्षा की जा रही है? आत्मरक्षा के लिए 'परशुराम की प्रतीक्षा' में हिंसा को आपद्धर्म स्वीकार करने वाला कवि अपने यौवन में अहिंसा को लेकर क्षोभ से भर गया हो तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

पर, केशव का कृपापूर्ण प्रणभंग ही
इस छोटे-से 'पद्य-पुष्प का अन्त है।[4]

दिनकर का प्रसिद्ध प्रबन्ध काव्य 'कुरूक्षेत्र' 'महाभारत' पर आधारित है किन्तु यह न तो व्यास का अनुकरण है और न ही महाभारत के कथानक को दोहराने का प्रयास। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात भारत के साथ-साथ अन्य देश भी युद्ध के दंश को झेल रहे थे। जापान के हिरोशिमा-नागासाकी पर अमेरिका की बमबारी ने मानवता को विज्ञान का जो उपहार विध्वंस के रूप में दिया है, उसके घिनौने स्वरूप और परिणाम ने यह सोचने को विवश किया कि विज्ञान को किस सीमा तक स्वीकार किया जाए। बुद्धिजीवी युद्ध और शांति पर विचार करते हुए विज्ञान को आशंका की दृष्टि से देखने लगे। दिनकर सवाल उठाते हैं कि ''युद्ध निन्दित और क्रूर कर्म है; किन्तु, उसका दायित्व किस पर होना चाहिए?''[5] 'कुरूक्षेत्र' युद्ध और शांति पर विचार करते हुए द्वंद्व से निष्कर्ष की ओर जाने के लिए युधिष्ठिर और भीष्म संवाद को आधार बनाता है। युधिष्ठिर अहिंसा और भीष्म न्याय को सर्वोच्च मूल्य मानने वाले आधुनिक चेतना सम्पन्न व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। विचारों के दो ध्रुवों को आमने-सामने लाकर कवि उन रहस्यों का उद्घाटन करता है, जिनसे यह समस्या उत्पन्न होती है। दिनकर के युधिष्ठिर-भीष्म द्वापर युग के नहीं बल्कि हमारे समय के त्रासदी झेल रहे पात्र हैं। यही कारण है कि दोनो पात्रों के बीच होने वाला संवाद मानवीय जीवन आदर्शों एवं मूल्यों

के द्वंद्व को प्रस्तुत करता है। 'कुरूक्षेत्र' के समीक्षक रामवचन राय के अनुसार ''कुरूक्षेत्र' में दिनकर ने कोई समाधान प्रस्तुत किया है, यह कहना गलत होगा। बल्कि वह युद्ध के कारण और परिणाम के बीच एक तार्किक संगति की तलाश करते रहे हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'कुरूक्षेत्र' में वह तलाश पूरी हो गयी है।''[6] इसी बात को दोहराते हुए डा. जयसिंह 'नीरद' कहते हैं

> कुरूक्षेत्र' में कवि ने कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया।... आधुनिकता कोई समाधान प्रस्तुत नहीं करती बल्कि अनेक विकल्पों की स्थिति उत्पन्न कर हमें चुनाव की विवशता का अनुभव कराती है।... वैसे इसमें कोई सन्देह नहीं कि दिनकर युद्ध का कोई विकल्प नहीं खोज सके। बल्कि यह कहना उचित होगा कि युद्ध का कोई विकल्प वे खोजना भी नहीं चाहते थे। और न ही युद्ध का कोई विकल्प है। कवि ने भीष्म के माध्यम से यह स्वीकार किया है कि मानव इतिहास में युद्ध की स्थिति अनिवार्य है।[7]

कवि स्वयं स्वीकार कर चुका है कि 'कुरूक्षेत्र' युद्ध-दर्शन नहीं है। वह तो तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए युद्ध के औचित्य को स्पष्ट कर देना चाहता है। उसे लगता है कि ब्रिटिश साम्राज्य के अन्याय से मुक्ति पाने का एकमात्र उपाय भारत का मुक्ति-संग्राम है और इसी में देश की जनता का हित भी है

> युद्ध को तुम निन्द्य कहते हो, मगर
> जब तलक हैं उठ रही चिनगारियाँ
> भिन्न स्वार्थों के कुलिश संघर्ष की,
> युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है।[8]

परम्परा यथास्थितिवाद के विरुद्ध विद्रोह की क्षमता नहीं रखती बल्कि संकट के समय उसे स्वीकार कर लेती है। आधुनिकता परम्परा के भीतर से ही उन तत्वों को ढूंढ लेती है जो उसके लिए सामयिक समस्या का समाधान हो सकते हैं और भविष्य में विकास की सम्भावना भी रखते हों। कवि यह नहीं कहता की सतत् युद्ध करते रहो। उसका मानना है कि जब तक भिन्न-भिन्न पक्षों के स्वार्थ-हित टकराएंगे तब तक अस्तित्व की लड़ाई लड़नी पड़ेगी। युद्ध के लिए उसकी प्रेरणा न तो अन्याय को प्रश्रय देने के लिए है और न ही किसी के अधिकारों के अधिग्रहण कर लिए जाने के लिए। उसकी प्रेरणा मानव समाज की स्वतंत्रता तथा जीवन-मूल्यों

को पुनर्स्थापित करने के लिए है। इस लिए यह मान लेना कि उनका संदेश युद्ध की अनिवार्यता है, अपने आप में भ्रांतिपूर्ण होगा। युधिष्ठिर और भीष्म प्रकारांतर से एक ही व्यक्ति के भीतर चलने वाला वह वैचारिक द्वंद्व है जिसे दो उचित निर्णयों में से एक का चुनाव करना है। परम्परा, आदर्शों, नैतिक-मूल्यों के साथ यह कवि का आधुनिकबोध है जो उसे इस द्वंद्व से बाहर निकालने में सहायक होता है।

'कुरुक्षेत्र' के माध्यम से दिनकर ने प्राचीन भारतीय जीवन दर्शन के उन शाश्वत मूल्यों और उनके द्वंद्व पर भी विचार किया है, जो हमारी सांस्कृतिक परम्परा की धरोहर के रूप में स्वीकार किए जाते हैं। सत्य, अहिंसा, सन्यास, नैतिकता, आत्मबल, निवृत्ति जैसी सात्विक सद्वृत्तियां भारतीय परम्परा की अमूल्य निधि रही हैं। लेकिन कोई भी परम्परा इकहरी नहीं होती। शान्ति और अहिंसा के साथ-साथ इसी परम्परा में न्याय की धारणा भी मौजूद रही है। अगर इस परम्परा में धर्म की धारणा है तो 'आपद्धर्म' और 'धर्मयुद्ध' की धारणा भी इसी परम्परा में है। आदर्शों को चुनौती देने वाली पाशविक वृत्तियां भी समानान्तर जीवित रही हैं जिसके कारण समय-समय पर परिवेशजन्य समस्याएं भी उत्पन्न होती रहीं। युगीन-परिस्थियों में होने वाले परिवर्तन का चुनौतीपूर्ण सामना करने के लिए हमें परम्पराओं का मूल्यांकन करना पड़ता है जिसका महत्वपूर्ण आधार हमारा आधुनिकताबोध होता है। परम्परा में सबकुछ उपलब्ध है, लेकिन वह अपने आप प्राप्य नहीं है। परम्परा को सायास अर्जित भी करना पड़ता है। परम्परा से लेखक क्या ग्रहण करेगा इसका आधार स्वयं लेखक का विवेक होता है। यह याद रखना चाहिए कि युद्ध की समस्या पर विचार करते हुए दिनकर ने पहले भी एक बार परम्परा का अवगाहन किया था। 'कलिंग-विजय' (1941) लिखते हुए दिनकर बिल्कुल भिन्न निष्कर्षों पर पहुंचे थे। उसमें दिनकर ने शासकों की लोलुपता को युद्ध का कारण बताते हुए बुद्ध की करुणा और शान्ति का आश्रय लिया था, लेकिन 'कुरुक्षेत्र' (1946) में वे अहिंसा को शोषक सत्ताधारियों का सत्य बताते हुए न्याय स्थापना हेतु युद्ध को श्रेयस्कर मानते हैं।

समस्या तब होती है जब हम किसी नितांत आधुनिक प्रश्न का जवाब परम्परा में तलाशने का प्रयास करते हैं, लेकिन परम्परा में उसके उत्तर अनुपस्थित या बहुत क्षीण होते हैं। जातिवाद और लिंगभेद के विरुद्ध समानता का प्रश्न भी एक ऐसा ही मुद्दा है। 'रश्मिरथी' के माध्यम से दिनकर ने जातिवाद की समस्या को ही परम्परा के भीतर से उठाने

का प्रयास किया। वर्ण-जाति-व्यवस्था हिन्दू समाज के गठन का बुनियादी तत्व रही है, स्वाभाविक है कि धर्मग्रंथों में इसके समर्थन में पर्याप्त कथन मिल जाता। यह अपने आप में इतनी ताकतवर परम्परा रही है कि सामान्यतया कमजोर तबके के लोगों के लिए इसका प्रतिवाद करना लगभग असम्भव सा रहा है। कई बार खुद वंचित तबके के लोग भी जाति व्यवस्था की सनातनता और उसके औचित्यपूर्ण होने पर यकीन रखते हैं। बुद्ध और अश्वघोष से लेकर मध्यकाल में कबीर तक ऐसे उदाहरण हैं जिन्होंने जातिवाद का तार्किक प्रतिवाद किया है, लेकिन यह प्रतिवाद मूलतः जातिवाद की बौद्धिक आलोचना तक सीमित है। 'उत्तररामचरितम' में शम्बूक और 'महाभारत' में एकलव्य के प्रसंग ही ऐसे हैं जो जीवन के व्यावहारिक धरातल पर जातिवाद का विरोध करते हैं। लेकिन ये प्रसंग न केवल संक्षिप्त हैं, बल्कि अत्यंत त्रासद होने के कारण करुणा तो उत्पन्न करते हैं, लेकिन आक्रोशयुक्त प्रेरणा नहीं दे पाते। ऐसे में केवल कर्ण ही एक ऐसा चरित्र बचता है जो जातिगत भेदभाव को चुनौती देता है और जिसका आख्यान त्रासद होने के बावजूद विस्तृत और शौर्यपूर्ण है।

जातिवाद के उन्मूलन के प्रसंग में दिनकर की प्रतिबद्धता और उनके सर्जनात्मक प्रयासों की किंचित विस्तृत विवेचना हम 'सामाजिक न्याय का प्रश्न और जातिवाद' शीर्षक उप-अध्याय में करेंगे। यहां हम 'रश्मिरथी' के केवल उन पहलुओं तक सीमित रहेंगे जिनका संबंध परम्परा और आधुनिकता के टकराव से है। परम्पराबद्ध कथानक किस तरह आधुनिक उद्देश्यों के भीतर सेंध लगाता है, 'रश्मिरथी' इसका बेहतरीन उदाहरण है। 'रश्मिरथी' की सीमा यह नहीं है कि उसके कथानक में जातिगत भेदभाव का प्रत्याख्यान कर सकने के अवसर कम ही तलाशे गए हैं अथवा कर्ण जातिवाद की सिर्फ मौखिक आलोचना ही प्रस्तुत कर पाता है। 'रश्मिरथी' की असली सीमा यह है कि कर्ण जन्मना दलित है ही नहीं। वह देवपिता और क्षत्रिय माता का पुत्र है, उसकी वीरता अनुवांशिक है। यह सीमा खुद महाभारत के कथानक द्वारा आरोपित है क्योंकि खुद महाभारतकार जातिगत गुणों की धारणा पर विश्वास रखता है। परिणाम यह होता है कि दिनकर कर्ण का उदाहरण देकर यह साबित करने की कितनी भी कोशिश करें कि व्यक्ति के गुण का उसकी जाति से कोई संबंध नहीं है, साबित यही होता है कि कर्ण के गुणों का संबंध उसकी जाति और जन्म से ही है। परशुराम पहचान लेते हैं कि कर्ण ब्राह्मण नहीं, बल्कि क्षत्रिय है तभी इतनी अपार पीड़ा सहन कर सका। भले ही कर्ण को

अपनी जाति के बारे में भ्रम हो, लेकिन परशुराम के कथन के जाल में फंसकर दिनकर अनजाने ही जाति और स्वभाव के बीच अनिवार्य संबंध की पौराणिक धारणा की पुष्टि कर बैठते हैं:

तेज-पुंज ब्राह्मण तिल-तिल कर जले, नहीं यह हो सकता,
किसी दशा में भी स्वभाव अपना वह कैसे खो सकता?
कसक भोगता हुआ विप्र निश्चल कैसे रह सकता है?
इस प्रकार की चुभन, वेदना क्षत्रिय ही सह सकता है।[9]

प्रसंगवश, परशुराम का चरित्र दिनकर का प्रिय चरित्र है। 'रश्मिरथी' में दिनकर ने कथानक की सीमा के भीतर यथासंभव उनका सकारात्मक मानवीय चरित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। वे कर्ण के ऊपर पितृवत स्नेह रखते हैं। छल के कारण वे क्रोधवश श्राप तो देते हैं, लेकिन स्वयं भी विचलित हो उठते हैं और उसे 'महान' बनने के आशीर्वाद के साथ विदा करते हैं। इस सकारात्मक प्रस्तुति के बावजूद क्षत्रिय संहारक होने की जो घटना परशुराम की ख्याति का आधार है, वह 'रश्मिरथी' में भी उनका पीछा नहीं छोड़ती। ब्राह्मणों को ही शस्त्र शिक्षा देने के प्रण के कारण न केवल जातिवाद, बल्कि क्षत्रिय-द्वेष और ब्राह्मणपोषी चरित्र भी 'रश्मिरथी' में परशुराम के विभिन्न वक्तव्यों में अनायास ही व्यक्त हो गया है। परम्परा इसी तरह आधुनिकता पर हावी होती है। डॉ. जयसिंह नीरद ने ठीक लिखा है कि ''या तो मनुष्य विवेकवान होकर परम्परा का उपयोग करता है, अथवा परम्परा स्वयं मनुष्य का उपयोग करने लगती है।''[10] 'रश्मिरथी' में यही विडम्बना घटित हुई है। ऐसा लगता है कि 'रश्मिरथी' में परशुराम के चरित्र के माध्यम से व्यक्त हुए जातिवाद का एहसास स्वयं दिनकर को भी जरूर हुआ था, तभी चीन आक्रमण के समय परशुराम को 'विशुद्ध भारत' का प्रतीक बताते हुए दिनकर ने उनके ऋषि-योद्धा के संयुक्त रूप को तो याद किया, लेकिन उनके क्षत्रिय-द्वेष या ब्राह्मणत्व का कोई संकेत नहीं दिया। इसके उलट उन्हें जातिवाद से परे बताते हुए दिनकर ने लिखा

यह वज्र वज्र के लिए, सुमों का सुम है;
यह और नहीं कोई, केवल हम तुम है।
यह नहीं जाति का, न तो गोत्र बंधन का;
आ रहा मित्र भारत भर के जन-जन का।[11]

लिंगभेद और परम्परा का सवाल और भी जटिल है। स्त्री प्रश्न पर दिनकर की दृष्टि का विस्तृत विश्लेषण हम तत्संबंधी उप-अध्याय में करेंगे। यहां हम सिर्फ इस प्रश्न के प्रासंगिक पहलू तक सीमित रहेंगे। कुछ वैदिक ऋषिकाओं के बार-बार दुहराए जाने वाले नामों के अलावा हमारे पास परम्परा में स्त्रियों के लिए और कुछ विशेष नहीं है। हां, पितृसत्तात्मक ढांचे में ढली सती नायिकाओं और देवियों की कहानियां इस परम्परा में बहुत प्रचुरता से उपलब्ध हैं। द्रौपदी, कुन्ती, औशीनरी और उर्वशी इत्यादि पौराणिक स्त्री पात्र दिनकर की रचनाओं में आए हैं, लेकिन वे पितृसत्ता को कोई चुनौती देते नहीं दीखते। औशीनरी मैथिलीशरण गुप्त की उपेक्षिता नारियों की श्रेणी में आकर खड़ी हो जाती है जो अपने त्याग से पाठकों में करुणा जगाती है। कुन्ती के चरित्र के माध्यम से कुछ कहने का अवकाश तो 'रश्मिरथी' में तलाशा जा सकता था, लेकिन वहां वह अपने विवाहेतर संबंध के लिए दीन-हीन बनकर सफाई ही देती रहती है। एक बार भावुक होकर वह यह तो कह डालती है कि 'उस जड़ समाज के सिर पर कदम धरुंगी/ डर चुकी बहुत, अब और न अधिक डरुंगी'। लेकिन ऐसा करने का अवसर तो महाभारत में ही नहीं आया अतः उसके इस संकल्प का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। उर्वशी के चरित्र में भी स्त्री स्वाधीनता से जुड़े प्रश्नों को उठाए जाने की गुंजाइश थी लेकिन परम्परा से प्रचलित उसके मोहिनी रूप के आकर्षण को दिनकर भी नहीं तोड़ पाते और 'कामाध्यात्म' से संबंधित दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक गुत्थियों को समझने-समझाने में ही उर्वशी की सम्भावनाएं निःशेष हो जाती हैं।

अपने परवर्ती लेखन में अर्द्धनारीश्वर के मिथक के जरिये दिनकर ने ऐसे भावी स्त्री-पुरुषों की कल्पना की जिनमें दोनों के ही गुण हों। निःसंदेह यह पारम्परिक मिथक का अत्यंत आधुनिक विचारोत्तेजक पुनराविष्कार है। लेकिन इस प्रयास की सीमा यह है कि ऐसे 'पूर्ण' स्त्री-पुरुषों के बारे में लिखी कविताओं में केवल वैचारिक वक्तव्य हैं। ऐसे स्त्री-पुरुष कैसे होंगे? उनकी गतिविधियां और संबंध कैसे होंगे? इसकी कोई ठोस कल्पना दिनकर की रचनाओं में नहीं उभर पाती।

बहरहाल, इसमें संदेह नहीं कि परम्परा का आश्रय लेने के चलते दिनकर की रचनाओं में न केवल संप्रेषणीयता और भावोत्कर्ष का गुण अत्यधिक मात्रा में आ गया, बल्कि इसके चलते दिनकर हमारे वर्तमान जीवन में मौजूद समस्याओं के उन पहलुओं की पहचान भी कर

सके जो केवल सामयिक नहीं बल्कि ऐतिहासिक हैं और विरासत के रूप में हमें मिले हैं। युद्ध हो अथवा जातिवाद, एक ऐतिहासिक प्रक्रिया में हमारे स्वभाव का अंग बन चुकी ऐसी प्रवृत्तियों का समाधान केवल तात्कालिक उपायों से नहीं किया जा सकता। इसके लिए हमारे परम्पराबोध को ही दुरुस्त किये जाने की जरूरत है। दिनकर का साहित्य इसी दिशा में एक प्रयास है। इस प्रसंग में दिनकर की सीमाएं भी हमारे लिए शिक्षाप्रद हैं कि परम्परा का इस्तेमाल करते हुए कैसी सावधानियां बरतनी चाहिए।

व्यक्ति और समाज

लोकतंत्र की संकल्पना में व्यक्ति की अवधारणा बहुत ही महत्वपूर्ण है। लोकतंत्र केवल शासन पद्धति नहीं है, व्यापक अर्थ में वह एक मूल्यबोध है। इसीलिए राजनीति के अलावा हम लोकतांत्रिक समाज और लोकतांत्रिक व्यक्तियों की भी चर्चा करते हैं। दूसरी अन्य पद्धतियों की तुलना में लोकतंत्र की विशिष्टता इस बात में निहित है कि इसमें जितना जोर हर व्यक्ति की मूलभूत समानता पर है, उतना ही जोर हर व्यक्ति की विशिष्टता पर भी है। यानी हर व्यक्ति को भेदभाव रहित ढंग से समान अवसर उपलब्ध कराए जाने की मांग इस पद्धति का एक पहलू है, तो हर व्यक्ति को अधिकतम स्वतंत्रता दिये जाने की वकालत भी इसी का दूसरा अनिवार्य पहलू है। अपने आदर्श रूप में लोकतंत्र अभी कहीं भी साकार नहीं हो सका है। विभिन्न देश अथवा समाज लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया के अलग-अलग चरणों में हैं। जहां सामाजिक-राजनीतिक धरातल पर लोकतंत्र की वास्तविकता परखी जाती है, वहीं दर्शन, साहित्य और कलाओं में लोकतंत्र का आदर्श व्यक्त होता है। समाज के हर व्यक्ति के लिए समानता, स्वतंत्रता और न्याय उपलब्ध कराना ही हर जगह लोकतंत्र की कसौटी रही है।

हिन्दी में 'व्यक्ति बनाम समाज' की बहस अक्सर लेखकों को उलझाती रही है। व्यक्ति की स्वतंत्रता को कुछ हद तक स्वीकार करने के बावजूद यह आशंका सभी को रहती है कि असीमित स्वतंत्रता खुद समाज के लिए घातक हो सकती है। व्यक्ति की स्वतंत्रता पर जोर देने को अक्सर व्यक्तिवाद मान लिया जाता है। इसलिए अंतिम निष्कर्ष में प्रायः अधिकांश लेखक

समाज के हित में व्यक्ति की स्वतंत्रता पर अंकुश लगाने का पक्ष लेते हैं। व्यक्ति की स्वतंत्रता को लेकर यह आशंका जायज इसलिए है कि सामंती समाजों से लेकर पूंजीवाद तक में सत्ता और शक्ति केवल कुछ व्यक्तियों के हाथों में सीमित रही है। अतः उन्हें अपनी मनमानी करने की छूट रही है। इस मनमानी को स्वतंत्रता का पर्याय बिल्कुल नहीं समझा जाना चाहिए। लोकतंत्र में व्यक्ति की स्वतंत्रता का आशय किसी एक या कुछ व्यक्तियों की स्वतंत्रता से नहीं है। वहां हर व्यक्ति को अपने दायरे में पूरी स्वतंत्रता प्राप्त है, लेकिन केवल वहीं तक जहां तक उसकी स्वतंत्रता दूसरों की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप न कर रही हो। अज्ञेय जैसे लेखक जब समाज के विरुद्ध 'विद्रोही व्यक्ति' का महिमामंडन कर रहे होते हैं तो वे असल में हर व्यक्ति की बजाय कुछ 'विशिष्ट' व्यक्तियों की स्वतंत्रता की बात कर रहे होते हैं। समाज को जड़ और रूढ़िवादी लोगों की भीड़ तथा 'व्यक्ति' को उनसे विशिष्ट मानने की यह धारणा न केवल समाज विरोधी है, बल्कि लोकतंत्र विरोधी भी है।

'व्यक्ति बनाम समाज' की बहस इस भ्रम पर आधारित है कि व्यक्ति और समाज स्वतंत्र रूप से अस्तित्वमान हैं। जबकि सचाई यह है कि हर व्यक्ति न केवल समाज की उपज है, बल्कि अपने भीतर वह सामाजिकता का वहन भी करता है। यह बात 'विद्रोही' और 'असामाजिक' व्यक्तियों के बारे में भी सच है। सामाजिक सहयोग के बिना विद्रोही व्यक्तियों का भी अस्तित्व असंभव है। व्यक्ति का विरोध समाज से नहीं, बल्कि कुछ सामाजिक रीतियों या प्रतिमानों से होता है। इसी तरह यह विरोध भी किसी अमूर्त समाज से नहीं, बल्कि समाज में रहने वाले व्यक्तियों से होता है। इस तरह व्यक्ति बनाम समाज की बहस असल में व्यक्ति बनाम अन्य व्यक्ति की बहस है। ध्यान रखना चाहिए कि जहां समाज में संतुलन तथा व्यवस्था जरूरी है, वहीं समाज का विकास भी जरूरी है। नवीन प्रवृत्तियां व्यक्तियों के माध्यम से समाज में आती हैं। कभी वे पूरी तरह नकार दी जाती हैं, तो कभी किंचित विरोध के साथ धीरे-धीरे सामूहिक स्वीकृति पा लेती हैं। इसीलिए व्यक्ति बनाम अन्य व्यक्ति की इस बहस में किसी एक के पक्ष में अंतिम फैसला सुनाने से ज्यादा जरूरी यह देखना है कि किसी विशेष प्रसंग में किसका पक्ष ज्यादा उचित है।

दिनकर के काव्य में व्यक्ति और समाज के रिश्ते की पड़ताल तीन स्तरों पर की जा सकती है। पहला स्तर खुद दिनकर के चयन का है, यह देखना कि काव्य रचना के लिए

दिनकर ने वैयक्तिक रुचियों और सामाजिक दायित्वों में से क्यों और किसका चयन किया? दूसरा स्तर दिनकर की रचनाओं में व्यक्ति और संबंध के बारे में मौजूद वक्तव्यों की पड़ताल का है और तीसरे स्तर पर दिनकर की रचनाओं में 'व्यक्ति' पात्रों के स्वभाव और समाज से उनके रिश्ते की पड़ताल की जाएगी।

दिनकर ने जिस दौर में लिखना शुरू किया वह द्वंद्व भरा समय था। एक ओर यह साहित्य में छायावाद की प्रतिष्ठा का दौर था, जिसका जोर वैयक्तिक अनुभूतियों और भावुक कल्पना पर था तो वहीं दूसरी ओर व्यापक धरातल पर वह राष्ट्रीय आन्दोलन का दौर भी था। दिनकर ने इन दोनों धाराओं से संवाद करते हुए अपनी काव्ययात्रा का विकास किया। 'रेणुका' की कविताओं में व्यक्ति और समाज का स्पष्ट भेद देखा जा सकता है। कवि का सौन्दर्यबोध जहां उसकी व्यक्तिगत रुचि के लिए उसे प्रेरित करता है, वहीं उसकी सामाजिक चेतना युगीन परिवेश के प्रति उसे सृजन के लिए उत्प्रेरित भी करती है। यही कारण है कि 'रेणुका' की कविताओं में कहीं पौरुष का उद्दाम है जो 'ओर-छोर तक सृष्टि भस्म हो'[12] कहकर सामंतवाद और साम्राज्यवाद का विध्वंस कर देना चाहता है, तो कहीं सुकुमारता में संलिप्त कोमल अनुभूतियों के साथ कल्पना लोक में विचरण करता हुआ अपने सौन्दर्य प्रेम को अभिव्यक्ति देने का प्रयास करता है 'कल्पना जग में बनाऊंगा तुम्हारा वास/ और ही धरती जहां, कुछ और ही आकाश'। व्यक्ति और समाज के धरातल पर यह विचलन 'रेणुका' की कविताओं में स्पष्ट दिखाई देता है जबकि 'रसवन्ती' की कविताएं श्रृंगारिक और कोमल भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हुए भी नितांत वैयक्तिक नहीं हो सकी हैं। 'नील कुसुम' की रचनाओं में कवि की काव्य-चेतना के बहुआयामी बौद्धिक तत्व देखने को मिलते हैं।

'रेणुका' की अपेक्षा 'हुंकार' की रचनाओं में सामाजिक पक्ष की प्रधानता है, लेकिन व्यक्ति पक्ष गौण हो ऐसा बिल्कुल नहीं है। व्यक्ति सत्ता और सामाजिक सत्ता का आपसी द्वंद्व एक-दूसरे को किस प्रकार प्रभावित करता है, इस द्वंद्वात्मकता की बड़ी ही कलात्मक अभिव्यक्ति देते हुए कवि ने कहा है 'वर्तमान के हठी बाल ये रोते हैं, बिलखाते हैं/ रह-रह हृदय चौंक उठता है, स्वप्न टूटते जाते हैं।'[13] यह वर्तमान कवि का परिवेश है जहां शोषण की शिकार जनता और भूख से बिलखाते उसके बच्चे हैं और दूसरी ओर स्वप्न देखने वाला व्यक्ति जो समाज की समस्याओं से पलायन कर जाना चाहता है, लेकिन उसका स्वप्न इन

परिस्थितियों में पूरा नहीं हो सकता है, इसीलिए टूट भी जाता है जो कि स्वाभाविक है। अपने सामाजिक परिवेश को स्पष्ट करते हुए कवि कहता है 'तुम्हें चाह जिसकी, वह कलिका इस वन में खिलती न कहीं/ खोज रहा मैं जिसे, जिन्दगी वह मुझको मिलती न कही।'[14] 'रेणुका' की उन कविताओं जिनमें कवि समाज को भूलकर अपने काल्पनिक जगत में विचरण करता है के उलट यहां वह अपने सामाजिक दायित्व को स्वीकार कर कह उठता है 'वर्तमान की जय अभीत हो खुलकर मन की पीर बजे/एक राग मेरा भी रण में, बन्दी की जंजीर बजे।'[15] सावित्री सिन्हा ने ठीक लिखा है कि ''दिनकर में व्यक्ति-तत्व और समाज-तत्व का जो अनवरत घात-प्रतिघात चलता रहता है, उसमें 'परिस्थिति या मनः स्थिति के कारण' कभी किसी एक की प्रधानता हो जाती है। 'हुंकार' में समाज-तत्व की प्रधानता है। दिनकर ने समाज की वेदी पर अपनी व्यक्तिगत आशा-आकांक्षाओं को उत्सर्ग कर दिया है।''[16] कवि की चेतना उसे समाज से कटने नहीं देती और व्यक्तिगत भावनाओं को उस पर हावी होने से रोकती है। सामाजिक पीड़ा का अनुभव कहीं न कहीं कवि की संवेदना को स्पर्श करता है, यह अनुभूति उसे वस्तुस्थिति के साथ तादात्म्य स्थापित कराने के साथ ही उसकी चेतना को एक व्यापक धरातल भी प्रदान करती है। दिनकर की कविताओं में यही भाव सर्वथा देखने को मिलता है कि व्यष्टि और समष्टि के चुनाव में वे उहापोह की स्थिति में नहीं पड़ते बल्कि समष्टि का चुनाव कर मानवता के प्रति दायित्व निर्वाह को ही प्रधानता देते हैं। इसीलिए 'कुरूक्षेत्र' में वह कहते हैं 'व्यक्ति का है धर्म, तप, करुणा क्षमा/ व्यक्ति की शोभा विनय भी, त्याग भी/ किन्तु, उठता प्रश्न जब समुदाय का/ भूलना पड़ता हमें तप, त्याग भी।'[17] व्यक्तिगत महानता प्रदान करने वाले ये गुण जब समुदाय के हितों के विरुद्ध पड़ने लगें तो दिनकर बेहिचक उन्हें छोड़ देने के पक्षधर हैं।

कवि की सामाजिक भूमिका को लेकर दिनकर में गहरी प्रतिबद्धता दिखाई देती है। छायावादी काव्यान्दोलन के दौर और कोमल अनुभूतियों में अपनी गहरी दिलचस्पी के बावजूद दिनकर ने समय की मांग को सुना और केवल काव्य-प्रेमियों के लिए लिखने की बजाय संघर्षरत जनता के लिए लिखने को वरीयता दी। अपने इस चुनाव की पृष्ठभूमि को बताते हुए दिनकर ने 'चक्रवाल' की भूमिका में लिखा

> मेरे जानते उस समय सारे देश में एक स्थिति थी जो सार्वजनिक संघर्ष की स्थिति थी, सारे देश का एक कर्तव्य जो स्वातंत्र्य-संग्राम को सबल बनाने का कर्तव्य था और सारे देश की एक मनोदशा थी जो क्रोध से क्षुब्ध, आशा से चंचल और मजबूरियों से बेचैन थी। भारतवर्ष के इतिहास में यह वह समय आया हुआ था जब, कुछ दिनों के लिए, वैयक्तिक कर्तव्यों के निशान मिट जाते हैं, वैयक्तिक अनुभूतियां सिमट कर एक कोने में चली जाती हैं और सब के स्थान पर सामूहिक कर्तव्य और सामूहिक अनुभूतियों का साम्राज्य छा जाता है।[18]

हालांकि जब भी समय का दबाव कम हुआ या सामूहिक दायित्व को पूरा करने के बाद भी क्षमता बची, दिनकर ने वैयक्तिक अनुभूतियों को भी प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया। लेकिन पर्याप्त मात्रा में कोमल अनुभूतियों की कविताएं लिखने के बावजूद अगर दिनकर की प्राथमिक पहचान राष्ट्रीय कवि की बनी तो उसकी वजह यही थी कि उन्होंने अपने युग की भावनाओं को दूसरों की तुलना में सबसे प्रभावशाली ढंग से स्वर दिया था।

लेखन की दिशा के चयन के अलावा दिनकर ने अपनी कविताओं में भी व्यक्ति और समाज के प्रश्न पर कई बार अलग-अलग कोणों से विचार किया। उनका मानना है कि व्यक्ति को ही सुखी बनाने के उद्देश्य से समाज की रचना हुई है, इसलिए व्यक्ति का स्वावलम्बी होना और विकास करना अनिवार्य है। वह व्यक्ति को इकाई के रूप में अवश्य देखते हैं लेकिन यह इकाई उनके यहां निर्बल नहीं है। 'व्यक्ति' शीर्षक कविता में कवि इस बात को स्वीकार करता है कि व्यक्ति समाज की एक इकाई है और इकाई का महत्व समूह के सामने भले ही तुच्छ हो लेकिन अनुकूल परिस्थितियां मिलने पर यही इकाई समष्टि के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका भी निभा सकती है। व्यक्ति यदि अनल का एक कण है तो भी वह 'अनुकूल हवा लेकिन, पाकर/ छप्पर तक जा सकते उड़कर/ जीवन की ज्योति जगा सकते/ ज्वाला प्रचण्ड फेला सकती है छोटी-सी चिनगारी भी।'[19]

दिनकर की 'व्यष्टि' शीर्षक कविता पांच पदों में विभक्त है। व्यक्ति और समाज के आपसी सम्बन्ध एक दूसरे के प्रगतिशील विकास के लिए होने चाहिए। सामान्य रूप से यह बात ठीक लगती है लेकिन समाज की सत्ता का दबाव व्यक्ति के विकास में अक्सर बाधक हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में दोनों के हितों में कहीं न कहीं कुछ भेद दिखाई देने लगता है। कवि हितों के इसी अन्तर्विरोध को व्यक्त करते हुए कहता है 'तुम जो कहते हो, हम भी हैं

चाहते हैं वही/ हम दोनों की किस्मत है एक दहाने में/ है फर्क मगर, काशी में जब वर्षा होती/ हम नहीं तानते हैं छाते बरसाने में।'[20] समाज अपने आदर्शों और परम्पराओं के नाम पर व्यक्ति के अधिकारों को सीमित कर देता है। समष्टिवादी मानते हैं कि व्यक्ति पर बन्धन लगाने से ही व्यक्ति और समाज की प्रगति और विकास हो सकता है 'तुम कहते हो आदमी नहीं यों मानेगा/ खूंटे से बांधो इसे और रिरियाने दो/ सीधे मन से जो पाठ नहीं यह सीख सका/ लाठी से थोड़ी देर हमें सिखलाने दो।'[21] व्यक्ति और समाज के अन्तर्विरोध को व्यक्त करने वाली इस कविता में कवि व्यक्ति का पक्ष लेते हुए समाज से उसके विकास में सहयोग करने की अपेक्षा रखता है। कवि का मानना है कि जब व्यक्ति का चतुर्दिक विकास होगा तो वह स्वयं अन्य के विकास में सहयोगी भूमिका का निर्वाह करने लगेगा। व्यक्तियों से निर्मित समाज का विकास तो सही अर्थों में व्यक्तियों का ही विकास हुआ करता है। यदि समाज के आदर्शों की ठेकेदारी करने वाले लोग उसे नियमों-शर्तों से बांधने का प्रयास करेंगे तो अवसर पाते ही व्यक्ति समाज के घेरे से बाहर निकलने का प्रयास करेगा। समाज के बन्धनों की अतिशयता में वह कुछ समय के बाद स्वाभाविक रूप से विद्रोह कर बैठेगा। वास्तव में समाज व्यक्तियों के आपसी सौहार्द्र की एक व्यवस्था है यदि यह व्यवस्था भंग कर दी जाए तो व्यक्तियों का जीवन संकट में पड़ जाएगा।

व्यक्ति को यदि समुचित विकास के लिए सामाजिक वातावरण उपलब्ध होगा तो वह स्वयं समाज के लिए सहयोगी भूमिका का निर्वाह करेगा। ''सिर्फ समाज के ढॉचे को ठीक समझकर यह समझ लेना कि उसमें रहने वाले व्यक्ति भी सुखी हैं, न्याय नहीं है। साधनों का अन्तिम मूल्य व्यक्ति में आंका जाता है, समाज में नहीं।''[22] इसीलिए 'समष्टिवादियों से' वह कहते हैं 'है आंख तुम्हारी निराकरता के ऊपर/ तुम देख रहे कल्पित समाज की छाया को/ हमको तो केवल व्यष्टि दिखाई पड़ती है/ मुठ्ठी कैसे पकड़े समष्टि की माया को ?'[23] कवि की दृष्टि में ''आखिर समाज की रचना का उद्देश्य उसके सदस्यों को सुखी बनाने के सिवा और हो भी क्या सकता है ?''[24] जब तक वैषम्य की स्थिति बनी रहेगी अन्तर्विरोध विद्रोह का रूप धारण करेगा इसलिए आवश्यक है कि व्यक्तियों की मूलभूत आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए ही समाज के आदर्शों का निर्धारण हो। कवि को इस सन्दर्भ में गांधी का सिद्धांत उचित जान पड़ता है कि व्यक्ति को स्वावलंबी और स्वाधीन रखा जाना चाहिए। जहां रोटी,

कपड़ा, मकान के साथ-साथ उसे शिक्षा और स्वास्थ्य को पाने का अधिकार प्राप्त हो। उसे जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं के लिए सरकार की दया भावना की दरकार न हो।[25]

दिनकर ने वैयक्तिकता का वहां विरोध किया है जहां वह समाज के लिए अहितकर हो जाती है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखते हुए वह कहते हैं कि जब तक व्यक्ति और समाज के बीच ऊंच-नीच और अपने-पराए का भेद-भाव नहीं था, सभी एक कुटुम्ब के सदस्य की तरह प्रेम-भाव से रहते थे। सभी श्रम करते और जीवन का भरपूर उपभोग करते थे न ही कोई शोषक था और न ही कोई शोषित तब तक व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक बनकर मानवता के प्रगतिशील विकास में सहायक थे, उनके सुख का आधार समष्टि के सुख के साथ परस्पर जुड़ा हुआ था ''सब थे बद्ध समष्टि-सूत्र में/ कोई छिन्न नहीं था/ किसी मनुज का सुख समाज के/ सुख से भिन्न नहीं था।''[26] मानव समाज के भीतर बैर-भाव तथा व्यक्ति और समाज के अन्तर्विरोध का जन्म संचय की वैयक्तिक भावना के प्रबल हो जाने से हुआ। जब मनुष्यों के भीतर निजी सुख के लिए संचय की भावना ने जन्म लिया, समाज से अलगाव की प्रवृत्ति उसमें पैदा हाने लगी और वह समाज विरोधी बन गया। वैयक्तिकता के भीतर निजी सुख और संचय की भावना ने सम्पूर्ण मानवता के विकास को वहीं अवरुद्ध कर उसे विनाश की ओर धकेल दिया ''तज समष्टि को व्यष्टि चली थी/ निज को सुखी बनाने/ गिरी गहन दासत्व-गर्त के/ बीच स्वयं अनजाने।''[27] परिणाम यह हुआ कि वैयक्तिक सुख ने मनुष्यता को नष्ट करने के नए-नए उपकरण तैयार कर दिए और आज सम्पूर्ण मानवता इस भोगवाद के विष से पीड़ित होकर तड़प रही है। कुछ लोगो के निजी हित के लिए पूरी मानवता को अभिशप्त करने वाली वैयक्तिकता का कवि विरोध करते हुए कहता है 'इस वैयक्तिक भोगवाद से/ फूटी विष की धारा/ तड़प रहा जिसमें पड़कर/ मानव-समाज यह सारा।'[28] कवि का मानना है कि निजता का भाव मात्र निजी जीवन को ही सुखी बनाने के काम आ सकता है लेकिन सभी के दुखी होते हुए सुख के वास्तविक रूप को पाना आसान नहीं होगा। यदि वैयक्तिक सुख की चाह छोड़कर सभी के सुखों को ध्यान में रखा जाए तो हम पूरे समाज को सुखी बना सकते हैं।[29]

दिनकर मानते हैं कि जहां भी व्यक्तिवादी भावना का विस्तार निजी सुख के लिए हो रहा है, सामाजिक विघटन और समाज के सदस्यों के बीच टकराव भी वहां अधिक हैं।

अनुशासनहीन वैयक्तिकता से जन्म लेने वाली व्यवस्था में समाज का विकास नहीं होता बल्कि उसका पतन होता है। इस सीमा तक वैयक्तिकता का विकास मानवीय मूल्यों में ह्रास की स्थिति पैदा करता है जिसमें कुछ लोग मिलकर पूरे समाज का शोषण करते हैं। इसीलिए कवि कहता है ''जहाँ व्यष्टि स्वाधीन अधिक है, नाश वहां छाएगा/ अनुशासन के बिना व्यक्ति कुछ प्राप्त न कर पाएगा।''[30] कवि का मानना है कि समाज के भीतर रहते हुए व्यक्ति अनुशासित होने के साथ ही मानवीय संस्कारों को तो सीखता ही है, मानवीय संवेदनाओं के निकट भी रहता है। मानवीय संवेदनाएं वैयक्तिक विचलन के साथ-साथ सामाजिक विघटन को भी रोकती हैं।

अगर हम दिनकर के काव्य में आए व्यक्ति नायकों की भूमिका पर विचार न करें तो यह बात अधूरी रह जाएगी। काव्य में कोई सैद्धांतिक वक्तव्य देना अलग चीज है और उसे व्यक्ति पात्रों के जरिये मूर्त रूप देना बिल्कुल अलग चीज। सिद्धांतों की असली परख व्यवहार में ही होती है। दिनकर के काव्य में प्रायः उन्हीं व्यक्तियों को नायकत्व मिला है, जो समाज हित का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऐसे नायकों में बुद्ध, अशोक, चन्द्रगुप्त, भीष्म और कृष्ण जैसे पौराणिक-ऐतिहासिक पात्र हैं तो गांधी, जवाहर और जयप्रकाश जैसे समकालीन जननायक भी हैं। लेकिन दिनकर के काव्य में दो नायक ऐसे हैं जो समाज का प्रतिनिधित्व नहीं करते, बल्कि उसके विरुद्ध खड़े होते हैं - ये नायक हैं कर्ण और पुरुरवा।

व्यक्ति और समाज के बीच विरोध की स्थिति में समाज हमेशा सही हो, ये बिल्कुल जरूरी नहीं है। समाज में व्यवस्था बनाए रखने के लिए नियम-कानून और परम्पराओं का निर्माण होता है, लेकिन वैषम्यपूर्ण समाज की ये परम्पराएं अक्सर प्रभुत्वशाली तबके के हित में होती हैं। ऐसे में जब कोई इन परम्पराओं से बाहर जाकर अपनी पहचान बनाना चाहता है तो समाज (या उसके ठेकेदार) उसे दंडित करने को तत्पर हो जाता है। लेकिन मानवविरोधी जड़-परम्पराओं के खिलाफ खड़े होने वाले ये व्यक्ति ही समाज को प्रगति की दिशा में ले जाते हैं। जन्म के आधार पर व्यक्ति की हैसियत और भूमिका तय करने वाली जाति व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह का प्रतीक है कर्ण। दिनकर साहित्य में सूतपुत्र कर्ण से गौरवशाली और गरिमामय पात्र कोई दूसरा नहीं है। कर्ण का आग्रह है कि किसी व्यक्ति की पहचान उसकी अपनी योग्यता और कर्मों से होनी चाहिए, उसके ऊपर लगाए गए जाति-गोत्र के ठप्पे से

नहीं। जातिवादी समाज की जैसी भीषण भर्त्सना इस कृति में कर्ण के माध्यम से की गई है, दलित विमर्श के आने से पहले वैसी भर्त्सना हिन्दी साहित्य में दुर्लभ है। कवि मानता है कि व्यक्ति के गुणों की अवहेलना करने वाला ऐसा मानवविरोधी समाज नष्ट हो जाने योग्य है : 'धंस जाए वह देश अतल में गुण की जहां नहीं पहचान/ जाति-गोत्र के बल पर ही आदर पाते हैं जहां सुजान।'[31] स्पष्ट है कि 'व्यक्ति और समाज' के बीच विरोध की स्थिति में प्रधान मुद्दा किसी एक का पक्ष लेने का नहीं, बल्कि सही पक्ष की पहचान करने का है।

पुरुरवा के प्रसंग में व्यक्ति और समाज के बीच का विरोध कर्ण की भांति प्रत्यक्ष नहीं है। कथावस्तु, समस्याओं और नायकों के धरातल पर 'रश्मिरथी' और 'उर्वशी' दोनों में बहुत फर्क है। जहां 'रश्मिरथी' की कथा युद्ध और सार्वजनिक जीवन से जुड़ी है, वहीं 'उर्वशी' नायक-नायिका के नितांत व्यक्तिगत संबंधों से। पुरुरवा के ऊपर कर्ण की तरह सूत्रपुत्र और 'अवैध' होने का कोई कलंक भी नहीं है। सामाजिक नियमों का उल्लंघन 'उर्वशी' में भी है, लेकिन 'उर्वशी' में समाज-पक्ष अनुपस्थित है। पुरुरवा अपनी पतिव्रता एकनिष्ठ पत्नी की उपेक्षा कर उर्वशी के साथ विवाहेतर संबंधों में रहता है और उनका पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी बनता है। लेकिन इस पर न तो समाज के किसी प्रतिनिधि की ओर से कोई आपत्ति दर्ज हुई और न ही कवि की ओर से। यह भी गौरतलब है कि 'कामाध्यात्म' के अलावा पुरुरवा के इस प्रेम के पक्ष में और कोई तर्क नहीं है। वह तो प्रेम के लिए कोई व्यक्तिगत या सामाजिक संघर्ष भी नहीं करता, बल्कि अपनी पत्नी के साथ छल करता है। पुरुषत्व और नृपत्व के विशेषाधिकारों के जरिये हासिल की गई उसकी 'स्वतंत्रता' औशीनरी के अधिकारों का हनन करती है, लेकिन कवि बस स्त्रियों की परनिर्भरता पर अफसोस जताकर मुक्ति पा लेता है। ऐसा लगता है कि 'उर्वशी' में दिनकर का एकमात्र उद्देश्य 'कामाध्यात्म दर्शन' को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने तक सीमित रहा है, इसीलिए उन्होंने इसके अनुषांगिक पक्षों पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया है।

बहरहाल, अगर हम 'उर्वशी' के उक्त विचलन को छोड़ दें तो स्पष्ट दिखता है कि दिनकर ने अपनी रचनाशीलता में अपनी वैयक्तिक रुचियों के मुकाबले समय की पुकार को वरीयता दी। व्यक्ति और समाज के संबंधों में उन्होंने जहां एक ओर व्यक्ति को विकसित होने के लिए अधिकतम अवसर उपलब्ध कराने की वकालत की है, वहीं इस बात पर भी जोर

दिया है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता असीमित नहीं होनी चाहिए। दूसरों के प्रति दायित्व की भावना भी स्वतंत्रता का उतना ही महत्वपूर्ण दूसरा पहलू है। जहां व्यक्तियों को इस बात का संयम रखना चाहिए कि उसकी स्वतंत्रता सामूहिकता के लिए कोई संकट न खड़ा करे, वहीं समाज के लिए भी यह जरूरी है कि वह हर व्यक्ति को उसके गुणों के अनुसार पहचाने और अनुकूल अवसर प्रदान करे।

धर्म और साम्प्रदायिकता

इतिहास के विभिन्न चरणों से गुजरते हुए मनुष्य ने लगातार प्रकृति के साथ अपने संबंधों को पहचानने का प्रयास किया है। ज्ञान-विज्ञान के आधुनिक विकास से बहुत ही पहले अपने अस्तित्व की सार्थकता को समझने का प्रयास करने की इसी प्रक्रिया में मनुष्य ने विभिन्न शक्तियों और तत्वों के साथ राग-विराग और आस्था के संबंध विकसित किये और उसी के अनुकूल आचरण तथा संस्कृति का विकास किया। प्रकृति के साथ सामुदायिक राग-विराग और आस्था आदि संबंधों का यह व्यापक रूप ही धर्म का आधार है। दुनिया भर में धर्मों के विभिन्न रूप प्रचलित हैं। साम्प्रदायिकता इस धर्म भावना से बिल्कुल अलग चीज है। मनुष्यों के धार्मिक अलगाव को लक्ष्य कर उनसे भेदभाव करना और अपने समुदाय के लिए विशेषाअधिकारों की कामना साम्प्रदायिकता का आधार है। अलग-अलग समय पर भारत में विभिन्न धर्मों के लोग भारत में आते रहे हैं। मध्यकाल में भारत पर इस्लाम में विश्वास रखने वाले मुगलों ने शासन किया तो वहीं आधुनिक काल में मुख्यतः ईसाई धर्म में विश्वास रखने वाले अंग्रेजों का शासन रहा। इस उप-अध्याय में हम देखेंगे कि दिनकर का समय किस प्रकार की साम्प्रदायिक स्थितियों से गुजर रहा था और दिनकर ने इन स्थितियों में किस प्रकार का हस्तक्षेप किया।

अंग्रेजों ने भारत पर अपनी पकड़ मजबूत करने के लिए भारत के भूगोल, इतिहास और संस्कृति सबका ही अध्ययन किया। अध्ययन की इस प्रक्रिया में जहां मैक्समुलर जैसे विद्वानों ने प्राचीन भारत के विकसित ज्ञान और संस्कृति के गौरवशाली इतिहास पर जोर दिया, वहीं जेम्स मिल जैसे इतिहासकारों ने मध्यकालीन मुगल शासन को धार्मिक भेदभाव और

बेहद खराब शासन पद्धति साबित करने पर जोर दिया। औपनिवेशिकों द्वारा भारत में मुगल शासन का यही रूप प्रचारित-प्रसारित किया गया क्योंकि मुगलकालीन इतिहास का यह रूप औपनिवेशिक सत्ता को श्रेष्ठ प्रणाली के तौर पर प्रतिष्ठित भी करता था। अंग्रेजों ने शिक्षा व्यवस्था की जिस नई पद्धति की शुरुआत की उसकी नींव भी इतिहास के इन्हीं आधारों पर रखी गई। नतीजतन इतिहास की इस धारणा ने हिन्दू-मुसलमानों में आपसी स्थायी कटुता का बीजारोपण किया। यह भी माना जाता है कि औपनिवेशिक प्रशासन ने भारत पर अपने शासन को दीर्घकालीन और मजबूत बनाए रखने के लिए हिन्दू-मुस्लिम अलगाववाद को समय-समय पर बढ़ावा भी दिया।

1857 के विद्रोह के बाद भारत में ब्रिटिश राज की स्थापना से 1947 में भारत की आजादी के बीच नब्बे वर्षों में साम्प्रदायिक दंगों में भारी बढ़ोत्तरी हुई। इस साम्प्रदायिकता का परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस के समकक्ष मुस्लिम लीग की स्थापना की गई। लीग की बुनियाद इस आधार पर रखी गई कि कांग्रेस मुस्लिमों की समस्या हल नहीं कर सकती, क्योंकि वह हिन्दुओं की पार्टी है। लीग के इस अलगाव ने राष्ट्रीय आन्दोलन की शक्ति को भी कमजोर किया। यहां स्पष्ट होना चाहिए कि मुस्लिम साम्प्रदायिकता के साथ-साथ हिन्दू साम्प्रदायिक तत्व भी जोर-शोर से अलगाववादी माहौल तैयार करने में लगे हुए थे और गोरक्षा जैसे मुद्दे तत्कालीन समाज में साम्प्रदायिक दंगों की वजह बन रहे थे। राष्ट्रीय आन्दोलन को कमजोर करने की साथ ही यह साम्प्रदायिक माहौल सामाजिक सौहार्द्र तथा मानवीय भावनाओं को भी चोट पहुंचा रहा था। राष्ट्र संबंधी दिनकर की कविताओं का एक प्रमुख स्वर एकजुटता के आह्वान से जुड़ा हुआ है, यह एकजुटता स्पष्ट तौर पर साम्प्रदायिकता की विरोधी है। 'हुंकार' में साम्प्रदायिकता का खुला विरोध करते हुए उन्होंने लिखा

> खूं बहाया जा रहा इंसान का सींग वाले जानवर के प्यार में
> कौम की तकदीर फोड़ी जा रही मस्जिदों की ईंट की दीवार में।[32]

औपनिवेशिक प्रशासन ने जिस रूप में मुगलकालीन इतिहास को प्रचारित-प्रसारित किया था, उसने दोनों धर्मों के लोगों में अलगाव की भावना पैदा कर साम्प्रदायिक तत्वों को खड़ा होने का मौका दिया था। दिनकर ने आजीवन हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयास किया। इतिहास के इस विकृत रूप के उलट उन्होंने भारतीय इतिहास में हिन्दू-मुस्लिम एकता और

सामासिक संस्कृति के तत्वों की प्रतिष्ठा का प्रयास किया। उनका यह रूप उनके गद्यलेखन में और भी प्रत्यक्ष रूप में दिखाई देता है जहां उन्होंने धर्म-निरपेक्षता और सामासिक संस्कृति के ढेरों उदाहरणों के जरिये इतिहास को पुनर्सृजित करने का प्रयास किया है। साम्प्रदायिकता के उलट हिन्दू-मुस्लिम संबंध को दिनकर बहुत उदार दृष्टि से देखते हैं। उनका मानना है कि मुसलमान सांस्कृतिक दृष्टि से भी हिन्दुओं के निकट हैं ''क्योंकि ज्यादा मुसलमान तो ऐसे ही हैं, जिनके पूर्वज हिन्दू थे और जो इस्लाम धर्म में जाने के समय अपनी हिन्दू-आदतें अपने साथ ले गए। इसके सिवा अनेक सदियों तक हिंदू-मुसलमान साथ रहते आए हैं और इस लंबी संगति के फलस्वरूप उनके बीच संस्कृति और तहजीब की बहुत-सी समान बातें पैदा हो गई हैं जो उन्हें दिनों-दिन आपस में नजदीक लाती जा रही हैं।''[33] उनका मानना है कि प्रत्येक देश की अपनी एक सांस्कृतिक विरासत होती है, जो उसके खान-पान, चलने-फिरने, पहनावे-ओढ़ावे, बातचीत के तौर-तरीके में परिलक्षित होती है। जिसे देखकर दूसरे देश के लोग पहचान लेते हैं कि यह व्यक्ति अमुक देश का रहने वाला है। विभिन्न संप्रदायों को एक साथ लाने में सांस्कृतिक एकता का यह राष्ट्रीय पहलू सबसे अधिक सहयोगी है। सांस्कृतिक एकता के इस संबंध के कारण ही दिनकर अपनी कविता में हिन्दू-मुसलमानों को भाई के रूप में देखते हैं और उनकी साम्प्रदायिक प्रवृत्ति पर दुख प्रकट करते हैं

> गूंज रही संस्कृति मंडप में भीषण फणियों की फुंकारें
> गढ़ते ही भाई जाते हैं, भाई के वध हित तलवारें।[34]

दिनकर को भारतीय संस्कृति में समन्वय की शक्ति दिखाई देती है इसलिए भी वे सांप्रदायिक तथा सांस्कृतिक समस्याओं के समन्वयवादी समाधान निकालने का प्रयास करते हैं। भारतीय सभ्यता की पाचन-शक्ति की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि ''आर्यों और द्रविड़ों के मिलन से भारतीय संस्कृति ने जो रूप पकड़ा, यह उसी की ताकत थी कि इस समन्वय के बाद जो भी जातियां इस देश में आईं, वे भारतीय संस्कृति के समुद्र में एक के बाद एक, विलीन होती चली गईं।''[35] संस्कृतियों के बीच होने वाले आदान-प्रदान को अच्छा मानते हुए दिनकर बताते हैं कि यह आदान-प्रदान भारत में सदियों से चला आ रहा है और खुद 'हिन्दू' नाम भी विदेशियों का दिया हुआ है।[36] संस्कृति कोई तत्व या विचार नहीं है जो प्रकृति से जस का तस उठा लिया जाता हो अथवा किसी व्यक्ति विशेष के मष्तिष्क से उपजता हो,

बल्कि जीवन जीने की प्रक्रिया में ही संस्कृति का निर्माण होता रहता है। संस्कृति के निर्माण की इस प्रक्रिया को बताते हुए दिनकर कहते हैं

> संस्कृति का स्वभाव है कि वह आदान-प्रदान से बढ़ती है। जब भी दो देश वाणिज्य-व्यापार अथवा शत्रुता या मित्रता के कारण आपस में मिलते हैं, तब उनकी संस्कृतियां एक दूसरे को प्रभावित करने लगती हैं, ठीक उसी प्रकार, जैसे दो व्यक्तियों की संगति का प्रभाव दोनों पर पड़ता है। संसार में, शायद ही ऐसा कोई देश हो जो यह दावा कर सके कि उस पर किसी अन्य देश की संस्कृति का प्रभाव नहीं पड़ा है। इसी प्रकार, कोई जाति भी यह नहीं कह सकती कि उस पर किसी दूसरी जाति का प्रभाव नहीं है।[37]

भारत में शताब्दियों से न जाने कितने लोग आए और यहां की संस्कृति में घुल-मिल कर यहीं के हो गए। कौन कहां से आया है अथवा किस मूल का है, यह ढूंढ़ना न केवल असंभव है, बल्कि इस आधार पर भेदभाव भी पूर्णतया असंगत है।

1924 के सांप्रदायिक दंगों के बाद जब 1930 में सत्याग्रह आरंभ हुआ सांप्रदायिकता शिथिल पड़ गई और हिन्दू-मुसलमान फिर से साथ होकर आंदोलित हुए। परिणामस्वरूप 1930 से 1937 के बीच सांप्रदायिक दंगे कम हुए। 1937-38 में जब कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच समझौता वार्ता विफल हुई और देश में तनाव बढ़ा, तब दिनकर ने इस स्थिति पर दुख जताया और हिन्दुओं और मुसलमानों की राष्ट्रीय एकता की संभावना को बताते हुए लिखा कि

> ताब थी किसकी कि बांधे कौम को एक होकर हम कहीं मुह खोलते ?
> बोलना आता कहीं तकदीर को, हिन्दवाले आसमां पर बोलते ![38]

यह दुर्भाग्यपूर्ण ही है कि समरसता चाहने वाले विभिन्न राजनीतिज्ञों, बौद्धिकों और साहित्यकारों के काफी प्रयासों के बावजूद साम्प्रदायिक शक्तियां न केवल भारत का बंटवारा कराने में सफल हुईं, बल्कि उन्होंने आजादी की खुशी में साम्प्रदायिक दंगों का दुख भी घोल दिया। कैबिनेट मिशन की योजना के अनुसार कांग्रेस और मुस्लिम लीग की मिली-जुली सरकार बनाने का प्रस्ताव था लेकिन लीग ने ऐसी सरकार बनाना स्वीकार नहीं किया और पाकिस्तान को अलग किये जाने की योजना बनाते हुए 16 अगस्त को 'सीधी कार्रवाई दिवस' घोषित किया। ''कलकत्ता में लीग की सरकार थी और उसने सीधी कार्रवाई के दिन छुट्टी घोषित कर

दी थी। 'वहां मैदान मे होनेवाली सभा में मुख्यमंत्री सुहरावर्दी के यह आश्वासन देने के बाद कि पुलिस और सेना हस्तक्षेप नहीं करेंगी, मुसलमानों ने हमले शुरू कर दिए। सुहरावर्दी ने लाल बाजार के नियंत्रण कक्ष में पर्याप्त समय बिताया, जिसमें प्रायः उनके समर्थक उनके साथ रहे थे और उन्होंने उन दुःखों के प्रति क्षोभकारी व्यग्रता दिखाई जो उनके संप्रदाय के लोगों ने भोगे थे।''[39] 16 अगस्त 1946 को कलकत्ता से आरम्भ हुआ साम्प्रदायिक दंगा बम्बई, पूर्वी बंगाल के नोआखाली, बिहार, संयुक्त प्रांत के गढ़मुक्तेश्वर और मार्च 1947 तक पूरे पंजाब तक फैल गया।[40]

कलकत्ता में 16 अगस्त से 19 अगस्त के बीच लगभग 4,000 लोगों की हत्याएं हुईं और करीब 10,000 लोग घायल हुए। बताया जाता है कि यह इतना जघन्य और वीभत्स था कि लाशें सड़को पर सड़ रही थीं। यहां मरने वालों में मुस्लिमों की संख्या अधिक थी। बम्बई में दंगों का छिटपुट चलते रहना इस दौरान एक आम बात हो गई। सितम्बर 1946 तक यहां 162 हिन्दू और 158 मुसलमान मारे गए।[41] इस घटना की चर्चा करते हुए रजनी पाम दत्त ने लिखा कि ''कलकत्ते के बाद अक्तूबर में पूर्वी बंगाल में दंगे हुए। फिर बिहार में मुस्लिम-विरोधी दंगे हुए। इन साम्प्रदायिक दंगो में हजारों आदमी मौत के घाट उतार दिए गए, दसियों हजार जख्मी और बेघरबार हो गए, अनेक जगहों में बड़े पैमाने पर हत्याकांड रचे गए और आग लगाने, लूटने और तरह-तरह के अत्याचार करने की तो सीमा ही न रही।''[42] जिस लूट-पाट, बलात्कार और निर्मम हत्याओं की खबर सुनकर भी सिहरन होती है, अमनपसन्द जनता उसे कैसे झेल रही थी इसकी कल्पना करना आसान नहीं है। दिनकर की 'हे मेरे स्वदेश' शीर्षक लम्बी कविता में इन दंगों से उपजा दुख और इन्हें न रोक पाने की असहायता का बेहद मार्मिक चित्रण मिलता है

नारी - नर जलते साथ हाय! / जलते हैं मांस - रुधिर अपने;
जलती है वर्षों की उमंग, / जलते हैं सदियों के सपने!
ओ बदनसीब! इस ज्वाला में / आदर्श तुम्हारा जलता है,
समझाएं कैसे तुम्हें / कि भारतवर्ष तुम्हारा जलता है?
जलते हैं हिन्दू - मुसलमान, / भारत की आंखे जलती हैं,
आने वाली आजादी की / लो! दोनों पांखें जलती हैं।[43]

स्वराज्य का राष्ट्रीय आंदोलन अलगाववाद की इस भयानक परिणति तक पहुंचेगा इसकी कल्पना संभवतः किसी को नहीं थी। कम से कम गांधी, नेहरू और दिनकर जैसे लोगों को तो बिल्कुल ही नहीं। साम्प्रदायिकता की यही भावना गांधीजी की हत्या का भी कारण बनी। हिंसा और दुर्भावना के इन रूपों ने यह सिद्ध कर दिया कि साम्प्रदायिकता का धर्म से दूर-दूर तक कोई लेना-देना नहीं है, लेकिन वैमनस्य फैलाने वाले तत्व धार्मिक श्रेष्ठताबोध और धार्मिक अलगाव के नाम पर साम्प्रदायिकता का प्रचार-प्रसार करते हैं। इसीलिए दिनकर की परवर्ती कविताओं में जहां एक ओर हिन्दू-मुस्लिम एकता की गुहार दिखाई देती है, वहीं दूसरी ओर जाति-धर्म के श्रेष्ठताबोध पर व्यंग्य भी दिखाई देता है

तुम जिसे मानते आए हो, उद्देश्य सभी से अच्छा है,
जन्मे हो जहां, जगत भर में वह देश सभी से अच्छा है।
तुम सर्वश्रेष्ठ हो जाति, सदा यह हठ पवित्र करते जाओ,
इस अहंकार के पालन में मारते और मरते जाओ।
जो नहीं मानता है तुमको, ठानो उस अभिमानी से रण।[44]

बहरहाल, इन साम्प्रदायिक स्थितियों ने शान्ति चाहने वालों को आजादी के बाद यह दायित्व भी दिया कि वे समाज में समरसता और सांस्कृतिक मेलजोल का भाव पैदा करें। दिनकर अपनी कविताओं में साम्प्रदायिकता के खिलाफ हमेशा लिखते रहे लेकिन संभवतः यह दिनकर का दायित्वबोध ही था कि उन्होंने अपनी विभिन्न गद्य रचनाओं के माध्यम से भी सामाजिक सौजन्य और सौहार्द का संदेश देने का प्रयास किया। इन प्रयासों में सबसे अधिक मूल्यवान है 'संस्कृति के चार अध्याय'। अपने इस ग्रंथ के जरिये उन्होंने इतिहास की प्रचारित-प्रसारित साम्प्रदायिक धारणा का खंडन किया और सिद्ध किया कि भारतीय संस्कृति की गौरव और उसकी महानता विभिन्न संस्कृतियों के मेल से पनपी हुई चीज है, न कि दूसरी संस्कृतियों और धर्मों के बहिष्कार से। दिनकर भारतीय संस्कृति की समन्वयवादी शक्ति में विश्वास रखते थे और उन्हें यकीन था कि केवल यही शक्ति साम्प्रदायिकता के जहर को खत्म कर सकती है।

सामाजिक न्याय का प्रश्न और जातिवाद

दिनकर का कवि-व्यक्तित्व राष्ट्रीय-आन्दोलन के संघर्षपूर्ण वातावरण में विकसित हुआ था। यही कारण है कि वह छायावादी कविता के दौर में राष्ट्रीय-विचारधारा के ध्वज-वाहक कवि के रुप में प्रतिष्ठित हुए। उनकी कविता विविध स्रोतो से उर्जा ग्रहण करती है जिसका लक्ष्य सामाजिक लोकतंत्र और विकास को आधार बनाते हुए राष्ट्रीय एकता की भावना को संपुष्ट करना है, जो आगे चलकर प्रौढ़ कवि में अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर संक्रमण करती है। दिनकर की कविता का मुख्य-स्वर जहां राष्ट्रवादी है वहीं उसकी अन्तश्चेतना सामाजिक न्याय से अभिप्रेरित है। सामाजिक-वैषम्य को वे राष्ट्रीयता के विकास में बहुत बड़ी बाधा के रुप में देखते हैं। जाहिर है कि भारतीय समाज के प्रसंग में जाति इस वैषम्य का सबसे ज्वलंत प्रश्न है और दिनकर के लिए उसे अनदेखा करना नामुमकिन रहा होगा।

आधुनिक काल में परम्परागत जातिगत वर्चस्व को एक बड़ी चुनौती गांधीजी के आन्दोलनों से मिली। युगों से उपेक्षित दलितों के लिए गांधी का 'अछूतोद्धार' उम्मीद की एक किरण की तरह था। दलित समुदाय का एक बड़ा हिस्सा गांधी के मार्गदर्शन में राजनीतिक आंदोलनों में सम्मिलित होता गया। वहीं समाज में ऐसे रूढ़िवादियों का एक ऐसा वर्ग भी था जिसने गांधी का जमकर विरोध किया। दलित प्रश्न के संदर्भ में यह याद रखना चाहिए कि जो दौर गांधी की सक्रियता का है, ठीक वही दौर अम्बेडकर के आन्दोलनों का भी है। लेकिन दुर्भाग्यवश हिन्दी क्षेत्र अम्बेडकर की कार्यस्थली नहीं बन सका और परिणामतः हिन्दी क्षेत्र में जो ख्याति और स्वीकार्यता गांधी को मिली वह अम्बेडकर को बिल्कुल नहीं मिल सकी। उस दौर के अधिकांश साहित्यकार अम्बेडकर से अपरिचित नजर आते हैं जबकि प्रेमचंद समेत तमाम रचनाकारों पर गांधी का गहरा प्रभाव साफ दिखाई देता है। 'कर्मभूमि' उपन्यास में गांधीवादी अछूतोद्धार एक प्रमुख मुद्दा बनकर आया है।

गांधीजी द्वारा चलाए जा रहे आन्दोलनों के साथ देश की जनता की भांति दिनकर भी भावनात्मक रुप से जुड़े थे। 1934 में जब गांधी पर अंधविश्वासी पंडितों ने देवघर (बिहार) में प्राणघातक हमला किया तो दिनकर क्षुब्ध हो उठे। उनकी 'बोधिसत्व'कविता में इस घटना का उल्लेख भी आता है। बुद्ध ने ही सबसे पहले जातिवाद के विष को पहचाना था और

जाति-विभेद से मुक्त कर प्रत्येक मनुष्य को मानवीय प्रतिष्ठा दी। दिनकर की कविता दलित-पीड़ित मानवता के लिए एक बार फिर से बुद्ध को पुकारती है।

अनाचार की तीव्र आंच में अपमानित अकुलाते हैं,
जागो बोधिसत्व ! भारत के हरिजन तुम्हें बुलाते हैं।
जागो विप्लव के वाक् ! दम्भियों के इन अत्याचारों से,
जागो, हे जागो, तप निधान ! दलितों के हाहाकारों से।[45]

संकीर्णतावादी ब्राह्मणों द्वारा निर्मित जातीय-संरचना ने दलितों का एक उपेक्षित समुदाय ही तैयार कर दिया। इस समुदाय को उनके मानवीय अधिकारो से भी वंचित कर दिया गया, कालान्तर में उच्च-वर्णों के द्वारा उन्हें धार्मिक-सांस्कृतिक धरातल पर बहिष्कृत किया जाने लगा। दिनकर ने इन विकृतियों के घिनौने रुप को निकट से देखा। हिन्दू शास्त्रों के पांखड की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं

आह ! सभ्यता के प्राङण में आज गरल-वर्षण कैसा !
घृणा सिखा निर्वाण दिलाने वाला यह दर्शन कैसा !
स्मृतियों का अन्धेर ! शास्त्र का दम्भ ! तर्क का छल कैसा !
दीन-दुखी असहाय जनों पर अत्याचार प्रबल कैसा ![46]

दलितों की स्थिति पशुओं से भी बदतर थी क्योंकि पशु इन दलितो की तरह अस्पृश्य नहीं थे। यह सच है कि स्वतंत्रता के बाद दलितों की स्थिति में अन्तर आया है, लेकिन उसे किसी भी प्रकार संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। दिनकर की कविता दलितों की उन समस्याओं को ध्वनित करती है जो उनके युग में और आज भी सामाजिक विकास की बहुत बड़ी बाधा बनकर उपस्थित हैं। एक तरफ दलितों को हिन्दू धर्म का अंग बताया जाता है, वहीं दूसरी ओर उन्हें किसी भी तरह के धार्मिक अधिकार नहीं है। दुनिया का कोई अन्य धर्म नहीं है जिसमें सहधर्मियों को ही अछूत माना जाता हो।

आज दीनता को प्रभु की पूजा का भी अधिकार नहीं,
देव ! बना था क्या दुखियों के लिए निठुर संसार नहीं?
धन-पिशाच की विजय, धर्म की पावन ज्योति अदृश्य हुई,
दौड़ो बोधिसत्व ! भारत में मानवता अस्पृश्य हुई।[47]

दिनकर के लिए राष्ट्र की स्वाधीनता का प्रश्न सबसे महत्वपूर्ण था, लेकिन वह ये भी जानते थे कि राजनैतिक आजादी पा लेने के बाद भी धर्म-संस्कृति की आड़ में परम्परा के नाम पर कराई जाने वाली गुलामी नहीं रुकेगी, इसलिए इसकी घेराबन्दी कर इसे समूल नष्ट कर देना चाहिए। धर्म के प्रति आस्था का भाव व्यक्ति के भीतर संस्कार रुप में डाल दिया जाता है। संस्कृति की ठेकेदारी करने वाले इसी संस्कार के दैत्य के हाथों शोषण करते हैं और व्यक्ति उसे मानने के लिए विवश हो जाता है। जीवन यथार्थ और अनुभव की उपेक्षा करके परम्परा को ही एकमात्र कसौटी मानने वाली प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए गहरी पीड़ा के साथ दिनकर ने लिखा

तुम नहीं जानते बन्धु ! चाहते हैं ये क्या;
इनके अपने विश्वास युगों से आते हैं;
है पास कसौटी, एक सड़ी सदियों वाली,
क्या करें? उसी के ऊपर हमें चढ़ाते हैं।[48]

सामाजिक समानता के पक्षधर दिनकर ने अपने गहन चिंतन से इस सत्य को अनुभूत किया कि शक्ति और विचारधारा इन दो चीजों के माध्यम से गैर-बराबरी स्थापित की जाती है। हिन्दुओं के प्रसंग में गैर-बराबरी को स्थायी बनाने के लिए कर्मफल का सिद्धांत गढ़ा गया। इसी छद्म का उद्घाटन करते हुए उन्होंने कुरुक्षेत्र में कहा :

भाग्यवाद आवरण पाप का और शस्त्र शोषण का,
जिससे रखता दबा एक जन भाग दूसरे जन का।[49]

अपने परवर्ती लेखन में दिनकर ने जाति-गोत्र के आधार पर भेदभाव करने वाली मानसिकता को देश की आंतरिक कमजोरी का एक बड़ा कारण माना। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में उन्होंने ऐसे लोगों को धिक्कारते हुए आक्रोशपूर्वक कहा 'जिस पापी को गुण नहीं; गोत्र प्यारा है/ समझो, उसने ही हमें यहां मारा है।'[50] जातिवाद को राष्ट्रीयता की भावना के विकसित होने में सबसे बड़ी बाधा के रूप में पहचानते हुए दिनकर ने अपनी प्रौढ़ कृति 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा ''भारतवर्ष में राष्ट्रीयता की अनुभूति में जो अनेक बाधाएं थीं, उनमें सर्वप्रमुख बाधा यही जातिवाद था। जिस गौरव की अनुभूति के लिए मनुष्य

राष्ट्रीयता का वरण करता है। उस गौरव की तृषा इस देश में जात-पांत की अनुभूति से ही शमित हो जाती थी।''[51] यहां दिनकर अम्बेडकर की सोच के बहुत निकट नजर आते हैं।

जाति प्रश्न के संबंध में दिनकर की सबसे महत्वपूर्ण रचना उनका चर्चित खंडकाव्य 'रश्मिरथी' है जिसमें राजनैतिक-सामाजिक समस्याओं पर कई प्रश्न और उनके दार्शनिक समाधान प्रस्तुत किए गए हैं। जातीय-समस्या का प्रश्न कथा-नायक कर्ण के साथ ही जुड़ा हुआ है। अपने जाति विरोधी आक्रामक नजरिये के कारण इस प्रबन्ध-काव्य ने हिन्दी साहित्य में अपार ख्याति अर्जित की। निश्चित रुप से इसकी कुछ पंक्तियों ने उन पढ़े-लिखे, समर्थ युवाओं के भीतर आत्मविश्वास तो भरा ही होगा जो दलित-वर्ग से आते हैं। शताब्दियों से 'अछूत' या 'अधम' जाति कहकर किस प्रकार उन्हे अपमानित किया जाता रहा और उनकी मानवीय-संवेदनाओं के साथ क्या-क्या छलावा होता रहा है, दिनकर ने उनके दबे हुए आक्रोश को जैसे वाणी दे दी हो :

मस्तक ऊंचा किए, जाति का नाम लिए चलते हो,
पर, अधर्ममय शोषण के बल से सुख में पलते हो।
अधम जातियों से थर-थर कांपते तुम्हारे प्राण,
छल से मांग लिया करते हो अंगूठे का दान।[52]

इस वक्तव्य में जाति व्यवस्था के पाखंड के साथ-साथ एकलव्य की कथा के संकेत के जरिये जातिवादियों के षडयंत्र की ओर भी इशारा किया गया है। जाति व्यवस्था के पोषकों का सबसे बड़ा षडयंत्र तो यह था कि उन्होंने मानव निर्मित इस भेदभावपूर्ण व्यवस्था को ईश्वर निर्मित बता दिया। जिससे इसका उल्लंघन पाप का पर्याय बन गया। अगर मान भी लिया जाए कि मनुष्य की रचना ईश्वर ने की है तो भी जाति व्यवस्था इंसानों की रचना है, जब समाज में जाति व्यवस्था मौजूद होगी तो इंसान उसके बाहर कैसे पैदा हो सकता है?

मैं कहता हूं, अगर विधाता नर को मुट्ठी में भरकर,
कहीं छींट दे ब्रह्मलोक से ही नीचे भूमंडल पर।
तो भी विविध जातियों में ही मनुज यहां आ सकता है,
नीचे हैं क्यारियां बनीं, तो बीज कहां जा सकता हैं?[53]

जाति और कुल का चुनाव अपने हाथ में नहीं है इसीलिए जाति के आधार पर किसी को सम्मानित या अपमानित करना भी गलत है। अपने व्यक्तिगत जीवन में भी दिनकर ने इसी सिद्धांत पर चलने का प्रयास किया। 4 मार्च 1961 को किसी रामसागर चौधरी नाम के अपरिचित व्यक्ति के पत्र का उत्तर देते हुए दिनकर ने लिखा

> अगर आप भूमिहार वंश में जन्मे या मैं जनमा तो यह काम हमने अपनी इच्छा से तो नहीं किया, इसी प्रकार जो लोग दूसरी जातियों में जनमते हैं, उनका भी अपने जन्म पर अधिकार नहीं होता. हमारे वश की बात यह है कि भूमिहार होकर भी हम गुण केवल भूमिहारों में ही नहीं देखें। अपनी जाति का आदमी अच्छा और दूसरी जाति का बुरा होता है, यह सिद्धांत मानकर चलने वाला आदमी छोटे मिजाज का आदमी होता है।[54]

'रश्मिरथी' की आरम्भिक पंक्तियां इसी दर्शन की काव्यात्मक अभिव्यक्ति हैं।

> 'जय हो', जग में जले जहां भी, नमन पुनीत अनल को
> जिस नर में भी बसे, हमारा नमन तेज को, बल को
> किसी वृन्त पर खिले विपिन में, पर, नमस्य है फूल
> सुधी खोजते नहीं गुणों का आदि, शक्ति का मूल।[55]

हिन्दी में दलित विमर्श के आगमन से पहले भी दलितों की पीड़ा साहित्य का विषय बनी है, लेकिन अक्सर उनकी चर्चा में करुणा का भाव ही प्रधान रहा है। जिस आक्रोश के साथ दिनकर ने 'रश्मिरथी' में जातिवाद पर प्रहार किया और जिस तरह कर्ण को गौरवान्वित किया वह न केवल आधुनिक हिन्दी साहित्य के लिए बल्कि खुद दिनकर के लिए भी अभूतपूर्व था। इस नए भाव के उदय के पीछे क्या वजहें रही होंगी? दिनकर ने स्पष्ट नहीं किया कि 'रश्मिरथी' के लेखन के पीछे कौन सी प्रेरणा कार्य कर रही थी। वे पौराणिक कथानक पर आधारित 'कथा-संवाद-वर्णन' के प्रति अपने मोह को इसका कारण बताते हैं।[56] लेकिन किताब की भूमिका यह भी बताती है कि कर्ण की कथा के प्रति मोह आकस्मिक नहीं था। भूमिका में दिनकर नोट करते हैं कि उनके समकालीन कई कवियों ने ठीक उसी दौर में 'कर्ण-चरित' को अपना उपजीव्य बनाया जिस समय दिनकर का ध्यान इस उपेक्षित नायक की ओर गया। वे लिखते हैं

> इस काव्य का आरम्भ मैंने 16 फरवरी, सन् 1950 ई. को किया था। उस समय मुझे केवल इतना ही पता था कि प्रयाग के यशस्वी साहित्यकार पं.लक्ष्मीनारायणजी मिश्र कर्ण पर एक महाकाव्य की रचना कर रहे हैं। किन्तु 'रश्मिरथी' के पूरा होते-होते हिन्दी में कर्णचरित पर कई नूतन और रमणीय काव्य निकल गए। यह युग दलितों और उपेक्षितों के उद्धार का युग है।... कर्ण-चरित के उद्धार की चिंता इस बात का प्रमाण है कि हमारे समाज में मानवीय गुणों की पहचान बढ़ने वाली है। कुल और जाति का अहंकार विदा हो रहा है।[57]

क्या दिनकर का संकेत आजादी की ओर है? कुल और जाति का अहंकार तो आज भी विदा नहीं हुआ है फिर दिनकर को उस वक्त ऐसा क्यों महसूस हुआ कि मानवीय गुणों की पहचान बढ़ने वाली है? क्या उनके किसी समकालीन दलित ने अपने मानवीय गुणों से कुल और जाति के अहंकार को चकनाचूर किया था? उत्तर है हां, वह व्यक्ति डॉ.अम्बेडकर थे।

जिस समय गांधी अछूतोद्धार कार्यक्रम चला रहे थे उसी समय अम्बेडकर दलितों के अधिकारों एवं स्वाभिमान के लिए संघर्ष कर रहे थे। लेकिन अम्बेडकर के जीते-जी उनकी प्रशंसा तो क्या निंदा करने के लिए भी दिनकर ने उनका नाम नहीं लिया। ऐसा नहीं है कि दिनकर ने अपनी रचनाओं में राजनैतिक व्यक्तियों का उल्लेख न किया हो। गांधी को तो छोड़ ही दें, नेहरू और विनोवा से लेकर मार्क्स-लेनिन और हिटलर-मुसोलिनी सबका नामोल्लेख वे बेझिझक अपनी रचनाओं में करते रहे। गांधी के प्रति दिनकर की श्रद्धा से हम वाकिफ हैं और जाति के प्रश्न पर गांधी का सबसे तीखा विरोध अम्बेडकर ने किया था। अगर गांधी से अधिक किसी राजनेता को दिनकर ने वरीयता दी तो वे नेहरू थे। आजादी के बाद नेहरू की सरकार ने अम्बेडकर को ससम्मान अपने मंत्रिमंडल में शामिल किया। 26 नवम्बर, 1949 को अम्बेडकर की अध्यक्षता में तैयार संविधान के प्रारूप को संविधानसभा ने स्वीकार कर लिया। इसी के ढाई महीने बाद दिनकर ने 'रश्मिरथी' का लेखन आरम्भ किया। कर्ण के चरित्र में हिन्दी के लेखकों की दिलचस्पी आकस्मिक नहीं, बल्कि ठोस भौतिक कारणों से जागृत हुई थी। विडम्बना यह है कि दलित प्रश्न पर कविता लिखने के प्रसंग में दिनकर ने कर्ण से लेकर बोधिसत्व और एकलव्य को तो याद किया, लेकिन ठीक अपने समय में मौजूद दलितों के महानायक को लगातार नजरंदाज करते रहे।

'संस्कृति के चार अध्याय' को दिनकर के चिंतन की शिखर कृति माना जाता है। इस किताब में दिनकर ने वर्ण और जाति व्यवस्था की चर्चा बार-बार की है। यह देखना दिलचस्प है कि मार्च 1956 में छपे इस किताब के पहले संस्करण में अम्बेडकर का नाम अनुपस्थित है, जबकि गांधी समेत कई भारतीय चिंतकों पर स्वतंत्र 'प्रकरण' हैं। अम्बेडकर की मृत्यु के बाद प्रकाशित इसके तीसरे संस्करण में दिनकर ने काफी फेरबदल किए। 'वर्ण जाति व्यवस्था' शीर्षक एक नया उप-अध्याय जोड़ते हुए दिनकर ने अम्बेडकर को उद्धृत किया और उनसे सहमति जताई। हालांकि यहां उन्होंने अम्बेडकर का इस्तेमाल प्राचीन वर्ण व्यवस्था के सकारात्मक पक्षों को बताने के लिए किया। यह बेहिचक कहा जा सकता है कि जाति प्रश्न पर अम्बेडकर के चिंतन की गहराई तक दिनकर नहीं पहुंच सके, न ही जाति उन्मूलन के अम्बेडकर के आक्रामक प्रयासों का उन्होंने समर्थन किया। संभवतः उन्हें गांधी का मार्ग ही अधिक श्रेयस्कर लगा। लेकिन अम्बेडकर न सही, दिनकर अपने समय के वास्तविक दलितों पर तो कविताएं लिख ही सकते थे। दिनकर के प्रशंसक बताते हैं कि दिनकर ने दलितों/बंधुआ मजदूरों के जीवन को निकट से देखा था[58] अगर ऐसा है तो उन्हें उन दलितों के जीवन के यथार्थ चित्र उकेरने चाहिए थे। बिहार में बंधुआगिरी की समस्या तो बहुत व्यापक थी। 'श्वानों को मिलता दूध भात/भूखे बालक अकुलाते हैं' सरीखे गरीबी के जैसे दारुण दृश्य उनकी कविताओं में मिलते हैं, वे दलितों के प्रसंग में क्यों नहीं मिलते? जाति के प्रश्न पर उनका आक्रोश मूलतः बौद्धिक ही क्यों प्रतीत होता है? उनकी रचनाओ में न तो 'जूठन' और 'मैला सफाई' का कोई जिक्र मिलता है, न बंधुआ प्रथा का और न ही दलित स्त्रियों के यौन उत्पीड़न का। जातिगत उत्पीड़न का जो रूप उनकी रचनाओं में दिखाई देता है वह है शाब्दिक अपमान और अवसरों में भेदभाव - कर्ण को भी इसी उत्पीड़न से गुजरना पड़ता है। दुसाध, चमार, मुसहर, भुइयां (जो बिहार की सबसे बड़ी दलित जातियां थीं) की बजाय उन्हें 'सूत' को कथानायक बनाना ज्यादा श्रेयस्कर क्यों लगा जो न केवल मात्रात्मक दृष्टि से अल्पसंख्यक जाति थी, बल्कि सामाजिक प्रतिष्ठा की लिहाज से बहुत सी दलित जातियों से बेहतर स्थिति में थी? इसके दो ही कारण हो सकते हैं। पहला, दिनकर ने दलितों के जीवन को एक उदार हिन्दू की ही दृष्टि से देखा, उस जीवन से उनका अंतरंग परिचय नहीं था और दूसरा, पौराणिक कथानक - जिसमें 'कथा-संवाद-वर्णन' का कुछ अवसर मिल सके - के प्रति दिनकर का मोह अधिक प्रबल था। कहने की जरूरत नहीं कि जोरदार संवाद या उद्‌बोधन ही दिनकर

की शैली का वह गुण है जिसने 'रश्मिरथी' को भी लोकप्रिय बनाया। पौराणिक कथानक का मोह लेखक के दृष्टिकोण को तो प्रभावित करता ही है, वह स्वयं यथार्थ के प्रस्तुतीकरण को भी प्रभावित करता है। यही वजह है कि दिनकर बंधुआगिरी के यथार्थ को जानते हुए भी उसे व्यक्त करने में दिलचस्पी न ले सके। वीर रस का कवि होने के नाते उन्हें नायक का दीन-हीन बंधुआ रूप नहीं, बल्कि योद्धा रूप पसंद आया। और इसीलिए कर्ण के वक्तव्यों में पीड़ा और आक्रोश के बदले वीरोचित दर्प का भाव कहीं अधिक है।

पूछो मेरी जाति, शक्ति हो तो, मेरे भुजबल से,
रवि-समान दीपित ललाट से, और कवच-कुण्डल से।
पढ़ो उसे जो झलक रहा है मुझमें तेज-प्रकाश,
मेरे रोम-रोम में अंकित है मेरा इतिहास।[59]

न केवल यह गर्व बल्कि कर्ण के अन्यान्य गुण भी दलितों के लिए सुलभ नहीं थे। 'रश्मिरथी'के प्रथम सर्ग मे दिनकर जिस रुप में कर्ण का परिचय देते हैं उन स्थितियों की परिकल्पना क्या किसी दलित अथवा अस्पृश्य के लिए सम्भव थी

ज्ञान-ध्यान, शस्त्रास्त्र, शास्त्र का कर सम्यक् अभ्यास,
अपने गुण का किया कर्णने आप स्वयं सुविकास।[60]

उपरोक्त पंक्तियों की तुलना संस्कृत के उन श्लोकों से कर के देखें जिनके अनुसार धर्म ग्रंथों के सुनने-पढ़ने तक को दंडनीय ठहराया गया है तो इस दलित नायक की हकीकत समझी जा सकती है। उपरोक्त विश्लेषण से यह बात तो निश्चित हो ही जाती है कि कोई भी दलित कर्ण को अपना नायक कहने में सहजता का अनुभव नहीं कर सकता। हां इतना अवश्य है कि दिनकर की पंक्तियां जाति-गोत्र पूछने वाले किसी शिष्ट-समाज मे उसे कुछ देर तर्क-वितर्क करने का साहस दे सकती हैं; कहा नहीं जा सकता कि वह साहस कितनी दूर तक उसका साथ देगा। 'रश्मिरथी' की सबसे बड़ी विडम्बना तो यह है कि उसका नायक दलित है ही नहीं। कर्ण के पिता सूर्यदेव हैं और मां राजकुमारी कुन्ती। वह देवता और क्षत्रिय की संतान है, किसी दलित की नहीं। प्रतिभा का जाति से कोई संबंध नहीं होता यह साबित करने के लिए जो नायक दिनकर ने चुना वह ठीक उल्टा ही साबित कर देता है।

पौराणिक कथानक का मोह और दान-वीरता इत्यादि सामंती गुणों का आकर्षण केवल बाहरी तत्व नहीं है, बल्कि ये लेखक के दृष्टिकोण का अंग होती हैं। इस आकर्षण का ही नतीजा है कि जातिगत भेदभाव और शोषण का विरोध करने के बावजूद दिनकर कर्म आधारित आदर्श वर्ण व्यवस्था की कामना करने लगते हैं। वे जाति को नजरअंदाज करके गुणों को महत्व देने के प्रस्ताव के साथ 'रश्मिरथी' का आरम्भ करते हैं, लेकिन यह भूल जाते हैं कि जाति के होते हुए दलितों के गुणों का निर्बाध विकास हो ही नहीं सकता। वे जन्म के आधार पर वर्गीकरण का विरोध करने के बावजूद वर्ण व्यवस्था की शब्दावली का इस्तेमाल स्वयं करने लगते हैं।

> ऊंच नीच का भेद न माने, वही श्रेष्ठ ज्ञानी है
> दया धर्म जिसमें हो, सबसे वही पूज्य प्राणी है।
> क्षत्रिय वही, भरी हो जिसमें निर्भयता की आग
> सबसे श्रेष्ठ वही ब्राह्मण है, हो जिसमें तप त्याग।[61]

इस शब्दावली के इस्तेमाल पर आश्चर्य बिल्कुल नहीं होना चाहिए। गांधीवादी नजरिये से जाति को देखने के चलते खुद दिनकर भी इस मुद्दे पर अंतर्विरोध से ग्रस्त थे। उन्हें अस्पृश्यता और असंख्य जाति-भेदों से तो परेशानी होती थी, लेकिन प्राचीन वर्ण व्यवस्था उतनी ही आकर्षक भी लगती थी। 'संस्कृति के चार अध्याय' के संशोधित संस्करण में वे वर्ण व्यवस्था का औचित्य-निरूपण करते हुए लिखते हैं

> चातुर्वर्ण्य निन्दित संस्था नहीं थी, न आज हम उसकी निन्दा करते यदि वर्णाश्रम के भीतर से अगणित जातियों का जन्म नहीं हो गया होता। गीता में भगवान ने बड़े ही संतोष से कहा है 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-क्रम-विभागशः।' वर्णाश्रम का समर्थन स्वामी दयानन्द और महात्मा गांधी ने भी किया है। किन्तु, विलाप की बात इतनी ही है कि वर्णाश्रम के भीतर से अनेक जातियां निकल पड़ीं। ऊंच-नीच का भेद बेतहाशा बढ़ गया और मनुष्य केवल शूद्र ही नहीं, अंत्यज और अस्पृश्य माना जाने लगा।[62]

इस समझ को किसी अतिरिक्त टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। समझा जा सकता है कि दिनकर की रचनाओं में जाति प्रथा केवल बौद्धिक चिंता के रूप में क्यों दिखाई देती है।

अपनी इस सरलीकृत समझ के चलते दिनकर दलित प्रश्न के संदर्भ में कोई उल्लेखनीय प्रतिमान नहीं स्थापित कर पाते, उनका योगदान जातिवाद के विरुद्ध कुछ काव्यात्मक ओजस्वी तर्क रच पाने तक सीमित है। लेकिन हमें यह याद रखना चाहिए कि दिनकर का समय हिन्दी में दलित विमर्श का समय नहीं था और उस दौर में हिन्दी क्षेत्र के परिदृश्य में गांधीवाद और प्रगतिवाद का ही वर्चस्व था। इस क्षेत्र की राजनीति और साहित्य दोनों में ही अम्बेडकर का प्रभाव न के बराबर था। उस राजनैतिक-साहित्यिक माहौल के भीतर दिनकर उन गिने-चुने लेखकों में से थे जिन्होंने जातिवाद को सामाजिक लोकतंत्र की सबसे बड़ी बाधा के रूप में पहचाना और उसके उन्मूलन हेतु संघर्ष करने का आह्वान किया।

लैंगिक समानता और स्त्री प्रश्न

संस्कारों से मैं कला के सामाजिक पक्ष का प्रेमी अवश्य बन गया था, किन्तु, मन मेरा भी चाहता था कि गर्जन-तर्जन से दूर रहूं और केवल ऐसी ही कविताएं लिखूं जिनमें कोमलता और कल्पना का उभार हो... सुयश तो मुझे हुंकार से ही मिला, किन्तु, आत्मा मेरी अब भी 'रसवन्ती' में बसती है।[63]

आधुनिक काल में जिन तबकों के जीवन में बुनियादी परिवर्तन हुए उनमें स्त्रियों का स्थान सबसे ऊपर है। स्त्रियां भी पुरुषों के समान ही मनुष्य हैं अतः उनके साथ भेदभाव अनुचित है यह बात पहली बार आधुनिक काल में ही कही गई। अगर हम ध्यान दे पाएंगे कि भारत में आधुनिकता का आरम्भ नवजागरण के जिस आन्दोलन से माना जाता है, स्त्रियों से जुड़े प्रश्न उसके केन्द्र में थे। नवजागरण की मानवतावादी भावना से प्रभावित रचनाकारों ने साहित्य के माध्यम से इस सुधार आन्दोलन को आगे बढ़ाया और स्त्रियों की एक नई छवि रची। हिन्दी में नवजागरण प्रभावित यह प्रवृत्ति सबसे प्रबल रूप में मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं में दिखाई दी जिन्होंने काव्य की उपेक्षिताओं को अपनी रचनाओं का विषय बनाकर स्त्रियों के मूक बलिदानों पर करुणा पैदा की और उन्हें प्रतिष्ठित स्थान दिया था। दिनकर पर द्विवेदी युग और विशेषकर गुप्तजी का काफी प्रभाव पड़ा था इसे वे स्वयं भी स्वीकार करते हैं।

सवाल यह है कि शोषितों दलितों के पक्ष में 'हुंकार' भरने वाले 'राष्ट्रकवि' ने स्त्री प्रश्न को अपनी रचनाओं में किस तरह प्रस्तुत किया?

देश के अन्य शोषित तबकों की तुलना में स्त्रियों का शोषण जटिल है। एक ओर जहां सामंती, औपनिवेशिक अथवा पूंजीवादी व्यवस्था का शोषण वह पुरुषों के साथ-साथ सहती रही है, वहीं सामाजिक व्यवस्था के तौर पर वह पितृसत्ता से भी शोषित होती रही है। गरीबों-मजदूरों-किसानों की दुर्दशा पर रचित दिनकर की कविताओं में कभी-कभी व्यवस्था से शोषित स्त्रियों की झलक भी दिखाई पड़ जाती है। कर्ज ने परिवार की इतनी दारुण स्थिति में धकेल दिया है कि स्त्रियों के पास पहनने के लिए कपड़े तक नहीं हैं। अभावग्रस्त मांओं के सूखे शरीर में दूध नहीं उतर रहा और बच्चे अकाल मौत मर जा रहे हैं। दिनकर के काव्य में गरीब स्त्रियों के जीवन से जुड़े ये दृश्य पाठक को भीतर तक हिला देते हैं। लेकिन दुर्भाग्यवश दिनकर की कविताओं में ऐसे दृश्य गिने-चुने ही हैं। इसका आशय यह नहीं है कि दिनकर के काव्य में स्त्रियों की चर्चा नहीं है, इसके उलट दिनकर के काव्य में स्त्रियों से जुड़ी रचनाओं की उपस्थिति उतनी ही प्रभावशाली है जितनी उनकी राष्ट्रीय कविताओं की। लेकिन इन कविताओं में स्त्रियों के जीवन से संबंधित कुछ दूसरे पहलुओं की चर्चा की गई है। आधी आबादी होने के कारण स्त्रियों की चर्चा वैसे भी अनायास ही साहित्य में चली आती है, लेकिन इसके अलावा दिनकर के 'रेणुका', 'रसवंती', 'द्वंद्वगीत', 'नीलकुसुम', 'हारे को हरिनाम' जैसे संग्रहों तथा 'रश्मिरथी' और 'उर्वशी' में स्त्रियों के जीवन से संबंधित कुछ मुद्दों पर केन्द्रित विचार-विमर्श मौजूद है।

नारी जीवन के जिन अन्य पहलुओं की चर्चा दिनकर ने विस्तार से की है वह है स्त्री का रत्यात्मक (पत्नी-प्रेयसी) पक्ष और मातृत्व पक्ष। स्त्री जीवन के ये पहलू ही आमतौर पर साहित्य सृजन के लिए अनुकूल माने जाते रहे हैं। दिनकर के काव्य में कम से कम दो उदाहरण ऐसे हैं जहां वे मैथिलीशरण गुप्त की परम्परा को विकसित करते दिखाई देते हैं। पहला उदाहरण 'राजा-रानी' कविता है और दूसरा 'उर्वशी' का औशीनरी प्रसंग है। 'राजा-रानी' शीर्षक कविता पति और पत्नी के बीच परम्परा से चले आ रहे स्वामित्व और पराधीनता के संबंधों का करुण आख्यान है। स्त्री की पराधीनता उसे पुरुष की मधुप वृत्ति को

आंसू बहाकर सहन करने के लिए विवश करती आई है। अगर स्त्री इसे सहन नहीं करेगी तो पुरुष अपना मन कैसे बहला पाएगा?

डोलती सुरभि राजा-घर कोने-कोने/ परियां सेवा में खड़ीं सजा कर दोने।
खोले अलकें रानी व्याकुल सी आई/ उमड़ी, जाने क्या व्यथा, लगी वह रोने।
रानी, रोओ, पोंछो न अश्रु अंचल से/ राजा अबोध खेलें कचनार-कमल से।
राजा के वन में कैसे कुसुम खिलेंगे/ सींचों न धरा यदि तुम आंसू के जल से?[64]

यानी, राजा (पुरुष) तो बसन्त की भांति हरा-भरा रहते हुए जीवन का आनन्द भोगता है और रानी (नारी) उसके जीवन को वेदनाएं सहती,अश्रु बहाती सींचती रहती है। राजा के प्रति पूर्ण समर्पण में ही वह अपने सुखों को ढूढ़ती-पाती है। नर-नारी के पारस्परिक सम्बन्धों में नारी के बलिदान की प्रवृत्ति युगो-युगों से चली आ रही है इसे दर्शाने के लिए भी वे पौराणिक पात्रों का चयन करते हैं,इस चयन प्रक्रिया में कभी दुष्यंत और शकुंतला तो कभी राम और सीता का उदाहरण वे सामने रखते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि सीता की अग्नि-परीक्षा और निष्कासन का संदर्भ राम की निष्ठुरता का ज्वलंत प्रमाण है। इस असुविधाजनक प्रसंग से रामचरितमानस में तुलसीदास ने भी किनारा कर लिया था और आधुनिक काल में उपेक्षिताओं के उद्धारक मैथिलीशरण गुप्त भी इस पर चुप ही रहे। दिनकर विनम्रता के आवरण में राम की क्रूरता को उजागर करते हैं। राम ने सीता के साथ वही किया जो पितृसत्तात्मक समाज की परम्परा में युगों से होता आया था।

लेखनी लिखे, मन में जो निहित व्यथा है/ रानी की सब दिन गीली रही कथा है।
त्रेता के राजा क्षमा करें यदि बोलूं/ राजा रानी की युग से यही प्रथा है।
विधु-संग-संग चांदनी खिली वन-वन में/ सीते! तुम तो खो रही चरण-पूजन में।
तो भी यह अग्नि-विधान! राम निष्ठुर हैं/ रानी जनमी थीं तुम किस अशुभ लगन में।
नृप हुए राम, तुमने विपदायें झेलीं/ थी कीर्ति उन्हें प्रिय, तुम वन गईं अकेली।
वैदेहि! तुम्हें माना कलंकिनी प्रिय ने/ रानी करुणा की तुम भी विषम पहेली।[65]

इस कविता में नारी के बलिदान का साक्षात्कार करते हुए कवि पाता है कि वह पुरुष के लिए प्रेरणा स्रोत बनकर आती है और जीवन भर दुःखो को सहकर भी उसे सुख ही

पहुंचाने का प्रयास करती है। पुरुष उसकी उपयोगिता अथवा उसके त्याग से अनभिज्ञ तो नहीं, पर वह व्यवहार में समाज प्रदत्त विशेषाधिकारों का लाभ उठाने से नहीं हिचकता। इस कविता में कवि की भूमिका एक सहृदयी दर्शक की है जो नारी-जीवन की इस पीड़ा से दुःखी तो होता है पर कोई समाधान नहीं दे सकता। वह उसकी यातना का विवरण तो देता है, लेकिन उन्हें सहने से इनकार करने की सलाह नहीं देता। उल्टे इसे स्त्री के लिए विधि द्वारा निर्धारित नियति मानकर बस सहानुभूति प्रकटकर रह जाता है।

राजा हंसते हैं, हंसें तुम्हे रोना है/ मालिन्य मुकुट का भी तुमको धोना है।
रानी! विधि का अभिशाप यहां ऊसर में/ आंसू से मोती-बीज तुम्हें बोना है।[66]

'राजा-रानी' कविता में पुरुष की मधुपवृत्ति और उससे पत्नी को मिलने वाली उपेक्षा तथा दुख को ही 'उर्वशी' में औशीनरी की कथा के जरिये विस्तार दिया गया है। औशीनरी उसकी सखियों के बीच होने वाले संवादों के माध्यम से औशीनरी का पक्ष भी पाठकों के सामने रखा गया है। पत्नी हमेशा पति को सुलभ होती है, वह उसकी सम्पत्ति होती है इसीलिए उसमें पति की दिलचस्पी खत्म हो जाती है क्योंकि 'जो अलभ्य, जो दूर, उसी को अधिक चाहता मन है'।[67] चूंकि पति के अलावा पत्नी का कोई नहीं, इसलिए रोना ही उसकी नियति है

पति के सिवा योषिता का कोई आधार नहीं है।
जबतक है यह दशा, नारियां व्यथा कहां खोएंगी?
आंसू छिपा हंसेंगी, फिर हंसते-हंसते रोएंगी।[68]

इस विवशता पर सहानुभूति चाहे उत्पन्न हो लेकिन जो बात समझ से परे है वह यह कि पुरुषों के इस अनाचार को स्त्री अपना मूक समर्थन क्यों दे रही है? दोनों कविताओं में आंसू तो हैं, लेकिन विद्रोह की कोई भी चिनगारी वहां देखने को नहीं मिलती। सामान्यतया समाज में जब इस तरह की स्थिति पैदा होती है तब विवश पत्नियां अगर कुछ और नहीं तो कम से कम विरोध तो जताती हैं; झगड़े करती हैं और 'असहयोग' की स्थिति तो जरूर पैदा करती है। 'कुरुक्षेत्र' में दिनकर ने अत्याचार का सक्रिय प्रतिरोध करने को श्रेयस्कर बताया था 'छीनता हो स्वत्व कोई और तूं/ त्याग तप से काम ले यह पाप है/ पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे/ बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।' लेकिन औशीनरी, उर्वशी या पुरुरवा के प्रति

हिंसक होने को कौन कहे असहयोग तक नहीं करती। उल्टे स्त्री-जाति के साथ (विधाता के?) इस अन्याय को कोसने और आंसू बहाने के बाद औशीनरी अंततः रमण के लिए उर्वशी के साथ गंधमादन पर्वत पर गए हुए पुरुरवा के लिए मंगल कामना करती है।

कितना विलक्षण न्याय है/ कोई न पास उपाय है।
अवलम्ब है सबको, मगर/ नारी बहुत असहाय है।
दुख दर्द जतलाओ नहीं/ मन की व्यथा गाओ नहीं,
नारी! उठे जो हूक मन में/ जीभ पर लाओ नहीं।
तब भी मरुत अनुकूल हों/ मुझको मिलें जो शूल हों,
प्रियतम जहां भी हों/ बिछे सर्वत्र पथ में फूल हों।

लेकिन इन मंगलकामनाओं और सहयोग का कोई लाभ नहीं होता। सोलह वर्षों तक रमण करने के बाद जब शापग्रस्त उर्वशी स्वर्गलोक वापस चली जाती है तो दुख से विकल पुरुरवा सन्यास ले लेता है। एक बार औशीनरी का प्रसंग पुनः उपस्थित होता है। इस आघात पर औशीनरी स्तब्ध है, लेकिन उसकी शिकायत मात्र इतनी है कि जाना ही था तो बिना मिले, बिना बताए क्यों चले गए अंतिम बार अपने चरणों की धूल क्यों नहीं लेने दी। इस पूरे प्रसंग और इसे रचने वाली दृष्टि में मैथिलीशरण गुप्त की 'सखि वे मुझसे कहकर जाते' की अनुगूंज स्पष्ट सुनाई पड़ती है। फर्क यह है कि गुप्तजी ने 'यशोधरा' 1933 में लिखी थी और दिनकर ने 'उर्वशी' 1961 में लिखी।

एक फर्क और है! गुप्तजी ने उपेक्षित स्त्रियों के प्रति सहानुभूति पैदा करने के उद्देश्य से लेखन किया इसीलिए ये स्त्रियां उनकी रचनाओं के केन्द्र में हैं। गुप्तजी की कोई स्त्री पात्र पति के पर-स्त्रीगमन से पीड़ित नहीं है और न ही पर-स्त्रीगमन का महिमामंडन उन्होंने किया। इसके उलट औशीनरी न तो 'उर्वशी' का केन्द्रीय चरित्र है और न ही उसकी पीड़ा इस रचनाका केन्द्रीय प्रसंग है। 'उर्वशी' के नायक-नायिका पुरुरवा और उर्वशी हैं, उनकी प्रेमकथा ही 'उर्वशी' की मुख्य कथा है। उनकी 'कामाध्यात्म' साधना के बीच कौशीनरी का जिक्र तक नहीं होता, उसका जिक्र तो बस आरम्भ और अंत में क्षेपक की तरह जोड़ दिया गया है। उर्वशी-पुरुरवा के इस विवाहेतर संबंध के औचित्य पर दिनकर कहीं कोई टिप्पणी नहीं करते। इस प्रसंग में सुलक्षणा शर्मा का यह कहना बिल्कुल सही है कि पुरुरवा का प्रेम असल में एक

भोगवादी पुरुष का सामंती प्रेम है और इस सीधी-सादी (किन्तु अनैतिक) प्रेमकथा को स्वीकार्य बनाने के लिए दिनकर ने उसपर अध्यात्म का मुलम्मा चढ़ा दिया है।[69]

'उर्वशी' के प्रसंग में सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था या पुरुरवा की आलोचना करने की बजाय अंततः औशीनरी को ही पुरुरवा का दोषी ठहरा दिया गया है। अंतिम दृश्य में ऋषि पत्नी सुकन्या औशीनरी को ज्ञान देते हुए कहती है 'बुरा किया यदि शुभे! आपने देखा नहीं, नृपति के/ कहां घाव थे, कहां जलन थी, कहां मर्म पीड़ा थी।'[70] विडम्बना यह है कि पूरी किताब में 'कामाध्यात्म' के अलावा ऐसीअन्य कोई जलन, घाव या मर्म पीड़ा नहीं दिखती जिसका उपचार करती हो।

समस्या स्त्री-पुरुष के लिए अपनाए जाने वाले दोहरे सामाजिक मानदंडों में है, दुर्भाग्य से दिनकर भी उन्हीं मानदंडों को स्वीकार कर लेते हैं। बहुगमन का जो कार्य पुरुष के पौरुष का प्रतीक होता है, वही स्त्री के लिए अपराध बन जाता है। दिनकर के साहित्य में एक ऐसा उदाहरण 'रश्मिरथी' में आता है। कर्ण के माध्यम से दिनकर ने विवाहेतर संबंधों से जन्मी 'अवैध' संतानों की समस्या पर विचार किया है। इस प्रसंग में उन्होंने बिल्कुल ठीक दिखलाया है कि ऐसे मामलों में निरपराध संतति तो आजीवन दंड भोगती ही है, लेकिन गुमनाम रहने के बावजूद मां को भी दंड भोगना पड़ता है। अपनी ही संतति को वह खुलकर अपना नहीं सकती और खुद संतान की नजरों में भी अपराधी बन जाती है। कुंती अपनी सफाई देते हुए कर्ण से कहती है

> पर, मैं कुमारिका थी, जब तूं आया था/ अनमोल लाल मैंने असमय पाया था।
> अतएव, हाय! अपने दुधमुंहे तनय से/ भागना पड़ा मुझको समाज के भय से।
> बेटा, धरती पर बड़ी दीन है नारी/ अबला होती, सचमुच, योषिता कुमारी।
> है कठिन बंद करना समाज के मुख को/ सिर उठा न पा सकती पतिता निज सुख को।
> उसपर भी बाल अबोध, काल बचपन का/ सूझा न शोध मुझको कुछ और पतन का।[71]

'रश्मिरथी' में यह सफाई कर्ण के लिए नहीं, असल में पाठकों के लिए देनी पड़ी है। कवि की दृष्टि में कुन्ती का कार्य एक विचलन का परिणाम है जिसके लिए उस आयु में कुन्ती के अबोध होने और समाज के भय की बात कहकर सफाई देने की जरूरत पड़ रही है। समाज का यह भय तो एक वास्तविक समस्या है। इसका समाधान क्या है? कुन्ती की भर्त्सना

करते हुए कर्ण जो कुछ कहता है उसे ही दिनकर की दृष्टि में इसका समाधान समझना चाहिए। कर्ण कहता है कि उसे निर्भीक होकर समाज के सामने घोषणा कर देनी चाहिए थी

सुन लो, समाज के प्रमुख धर्म ध्वजधारी/ सुतवती हो गई मैं अनब्याही नारी।
अब चाहो तो रहने दो मुझे भवन में/ या जातिच्युत कर मुझे भेज दो वन में।
*** *** ***
पर सह विपत्ति की मार अड़ी रहती तुम/ जग के समक्ष निर्भीक खड़ी रहती तुम।
पी सुधा जहर को देख नहीं घबराती/ था किया प्रेम तो बढ़कर मोल चुकाती।
भोगती राजसुख रहकर नहीं महल में/ पालती खड़ी हो मुझे कहीं तरु-तल में।
लूट जगत में देवि! कीर्ति तुम भारी/ सत्य ही कहाती सती सुचरिता नारी।[72]

दिनकर की हुंकार वाली शैली की छंटा यहां देखते बनती है। निःसंदेह बहुत प्रभावशाली पंक्तियां हैं 'था किया प्रेम तो बढ़कर मोल चुकाती।' लेकिन जिस मोल की कल्पना दिनकर ने इन पंक्तियों में की है क्या मात्र उतना ही मोल ऐसी स्त्रियों को चुकाना पड़ता है। अवैध संतान के लिए घर से निकाल दिया जाना या जातिच्युत करना तो बहुत छोटी बात है, मात्र प्रेम संबंधों के लिए आज भी 'ऑनर किलिंग' की जाती है। पता नहीं दिनकर के सामने ऐसी किस स्त्री का उदाहरण था जिसे अवैध संबंधों अथवा अवैध संतान के पालन के लिए सती की उपाधि और 'बड़ी भारी कीर्ति' प्राप्त हुई थी! 'था किया प्रेम तो बढ़कर मोल चुकाती।' में एक संदेश भी अनायास चला आया है कि स्त्रियां अगर मोल चुकाने को तैयार हों तभी उन्हें प्रेम करने का अधिकार है। अजीब बात है कि कर्ण या दिनकर कहीं भी इस समस्या के लिए सूर्य को मोल चुकाने की सलाह नहीं देते। 'उर्वशी' में भी अप्सराएं इस भय से आतंकित होती हैं कि धरती पर प्रेम में बड़ी यातना है 'जो भी करती प्रेम उसे माता बनना पड़ता है।'

दिनकर के स्त्री संबंधी दृष्टिकोण को समझने के लिहाज से 'रसवन्ती' संग्रह की 'नारी' शीर्षक कविता महत्वपूर्ण है। इस नाम से इस संग्रह में दो कविताएं हैं। पहली कविता में नारी को विधि की 'अम्लान कल्पना' कहते हुए उसे पौरुष और कला इत्यादि की प्रेरणा बताया गया है। 'नारी' शीर्षक दूसरी कविता में वह वायवीय कल्पना नहीं, बल्कि ठोस रूप में आई है। दिनकर की यह कविता स्त्री की तीन छवियों का चित्रण करती है। पहली छवि ऐसी आधुनिक

नारी की है जो पुरुषों के समान स्वच्छंद आचरण करती है। वह आत्म-मुग्धा है,अपने रुप-सौन्दर्य को अपनी महत्वाकांक्षाओं को प्राप्त करने की सहायक-शक्ति के रुप में देखती है

निरावरण, उद्दाम किरण सी खिलती और मचलती,
आज दीखती नहीं समाती हुई आप अपने में।
अपना चित्र विविध रंगों में आप सृजन करती हो,
और जांचती हो फिर उसको स्वयं पुरुष के दृग से।[73]

दिनकर को इस आधुनिका का यह स्वरुप नहीं पसन्द आता है, उन्हे नारी का मर्यादित रुप ही श्रेयष्कर लगता है। यह स्त्री मातृत्व के महत्व को नहीं स्वीकारती, अहंवादी है, उन्माद जगाने वाली उच्छृंखल स्वभाव की है।दिनकर उसे सलाह देते हैं कि पुरुषों के मन को बेधकर क्षणिक आनन्द प्राप्त करना छोड़कर अपने मन के भीतर छिपी वास्तविक नारी को पहचानो।

इस कविता का दूसरा चित्र ऐसी नारी का है जो आदर्शो के बोझ से इतना अधिक दबी है कि वह समाज के भय से घर से बाहर आने-जाने तक में डरती है। उसे डर है कि उसके साथ ऐसा कुछ न घटित होने पाए जो समाज में उसकी प्रतिष्ठा के लिए किसी प्रकार का कलंक बन जाए। इस पारम्परिक स्त्री के पास उसके 'शील' के अलावा और कुछ भी नहीं है, उसे पुरुषों की लोलुप नजर तक से भय लगता है। ऐसी दयनीय स्थिति का सामना कर रही स्त्री के प्रति सहानुभूति रखता कवि व्यग्र होकर अपना पौरुष उसे उढ़ा देने की कल्पना करता है।उसके भीतर की शक्ति को जगाने की बात कहता है जो सुनने में कर्णप्रिय तो हैं किन्तु वास्तविक जीवन का सत्य नहीं बन सकती।

तीसरा चित्रण मातृत्व को समर्पित नारी का है। नारी का यह रुप दिनकर को बहुत प्रिय है,वह इसे उसकी गरिमा की उत्कृष्टतम कोटि मानते है। स्त्री अपने इस चरित्र में पुरुष से कहीं बहुत ऊंचाई पर है, क्योंकि किसी सन्तान को जन्म देने के लिए उसकी प्रतीक्षा और साधना की तुलना पुरुष की भूमिका से नहीं की जा सकती। कोई भी पुरुष जब संतानोत्पत्ति के लक्ष्य को लेकर किसी स्त्री के संसर्ग में आता है उन क्षणों का आनन्द उठाने के उपरांत संतान के जन्म लेने तक का सम्पूर्ण दायित्व-भार स्त्री पर छोड़कर विरत हो जाता है।मातृत्व की प्रशंसा करते हुए दिनकर लिखते हैं

नारी की पूर्णता पुत्र को स्वानुरुप करने में,
करते हैं साकार पुत्र ही माता के सपने को
बिना पुत्र नारी का सम्यक् रुप नहीं खुल पाता,
जीवन में रमणी प्रवेश करती है माता बनकर।[74]

उपरोक्त उद्धरण पारम्परिक पितृसत्तात्मक मान्यताओं को ही पुनर्व्याख्यायित करता है। 'पुत्र और पुत्री' को समान भाव से समाज में देखने की दृष्टि विकसित न होने के कारण स्त्रियों की उपलब्धियो का सही मूल्यांकन नहीं किया जाता है। किसी नारी के लिए 'पुत्र' को जन्मना उसकी गरिमा के लिए अनिवार्य तो है ही,परिवार और समाज के बीच सम्मान और अपमान का एक बड़ा कारण भी है। पुत्री के पैदा होने पर स्त्रियों को प्रताड़ित किया जाता है बावजूद इसके कि विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि पुत्री के जन्म के लिए स्त्री उत्तरदायी नहीं है।ऐसी मान्यताओं कासमर्थन करना नारी की समस्याओं को और बढ़ावा देना है।

यह दिलचस्प है कि दिनकर ने काव्य के अलावा अपने निबंधों में भी स्त्री प्रश्न पर विचार किया है। इन निबंधों में उनका एक बिल्कुल दूसरा ही रूप सामने आता है। यह कवि रूप नहीं, बल्कि चिंतक का रूप है। उदाहरण के लिए, 'अर्द्धनारीश्वर' शीर्षक निबंध में उन्होंने स्त्री-पुरुष की समानता का जोरदार प्रतिपादन किया है। वे मानते हैं कि आरम्भ में स्त्री-पुरुष बिल्कुल समान थे। कृषि के आविष्कार के साथ जो श्रम विभाजन आरम्भ हुआ उसने ही स्त्रियों को पुरुषों पर निर्भर बना दिया। निर्भरताजन्य पराधीनता सभ्यता के विकास के साथ और बढ़ती गई।[75] स्त्री-पुरुष की भूमिकाओं और चरित्रों के इस विभाजन ने हमारे वर्तमान समाज को बहुत विकृत बना दिया है। तमाम युद्ध और दुर्बलताएं इसी विभाजन के चलते पैदा हुई हैं। दिनकर का विश्लेषण बहुत अंतर्दृष्टिपूर्ण है और उतनी ही अंतर्दृष्टिपूर्ण है 'अर्द्धनारीश्वर' की उनकी कल्पना।

> आरम्भ में दोनों बहुत कुछ समान थे। आज भी प्रत्येक नारी में कहीं न कहीं कोई नर प्रच्छन्न है और प्रत्येक नर में एक क्षीण नारी छिपी हुई है किन्तु सदियों से नारी अपने भीतर के नर को और नर अपने भीतर की नारी को बेतरह दबाता आ रहा है। परिणाम यह है कि आज सारा ही जमाना मर्दाना मर्द और औरतानी औरत का जमाना हो उठा है। पुरुष इतना कर्कश और कठोर हो चुका है कि युद्धों में अपना रक्त बहाते समय उसे यह ध्यान भी नहीं रहता कि रक्त के पीछे जिनका सिन्दूर बहने वाला है, उनका क्या हाल होगा। और न सिन्दूरवालियों को ही इसकी फिक्र

> है कि, और नहीं तो, उन जगहों पर तो उनकी राय खुले सिन्दूर पर आफत आने की आशंका हो। कौरवों की सभा में यदि संधि की वार्ता कृष्ण और दुर्योधन के बीच न होकर कुन्ती और गांधारी के बीच हुई होती तो बहुत संभव था कि महाभारत नहीं मचता।... नर-नारी के प्रचलित संबंधों का मनोवैज्ञानिक प्रभाव संसार के इतिहास पर पड़ रहा है और जब तक ये संबंध नहीं सुधरते, शान्ति के मार्ग की सारी बाधाएं दूर नहीं होंगी। नारी कोमलता की आराधना करते-करते इतनी कोमल हो गई है कि अब उसे दुर्बल कहना चाहिए। उसने पौरुष से अपने-आप को इतना विहीन बना लिया है कि कर्म के बड़े क्षेत्रों में पांव धरते ही उसकी पत्तियां कुम्हलाने लगती हैं।[76]

दिनकर मार्क्स और गांधी के चिंतन में इसका समाधान तलाशने की सलाह देते हैं। उनका प्रस्ताव है कि हरेक व्यक्ति में स्त्री और पुरुष दोनों के गुणों का विकास होना चाहिए।

अन्यत्र भी दिनकर ने स्त्री-पुरुष के बीच असमान श्रम-विभाजन और आर्थिक पराधीनता को उसकी दुर्दशा का कारण बताया है। स्त्रियों की स्वाधीनता को अपरिहार्य जरूरत बताते हुए वे यह भी कहते हैं कि इससे उनपर थोपी गई कृत्रिम कोमलता कम हो जाएगी और वर्तमान में उसके बदले मिलने वाला (विकृत) आनन्द भी उनसे छिन जाएगा, लेकिन उसकी स्थिति बदलने के लिए यह अनिवार्य है। वे लिखते हैं कि

> स्वाधीनता का वास्तविक अर्थ आर्थिक स्वाधीनता ही होती है। जब तक कामिनी-रूप को तटस्थ रखकर नारियां अपनी जीविका कमाने के योग्य नहीं हो जातीं, वे पराधीन ही रहेंगी और स्वतंत्र होकर वे उस अद्‌भुत होकर अवश्य खो देंगी जो उन्हें पराधीनता में सुलभ है।... तब भी यह उचित है कि नारियों की आर्थिक स्वतंत्रता जैसे भी हो, संभव बनाई जाए। अभी जो स्थिति है, वह काफी भयानक और कष्टपूर्ण है।[77]

निबंधों में व्यक्त दिनकर के उक्त विचारों से उनकी कविताओं की तुलना करने पर हैरानी होती है। जो स्त्रियों की समानता और आत्मनिर्भरता का इतना बड़ा हिमायती हो वह कैसे स्त्रियों के बारे में पारम्परिक धारणाओं से ग्रस्त कविताएं लिख सकता है? कैसे वह स्त्रियों को केवल सौंदर्य और भोग की वस्तु समझते हुए पौरुष की प्रशंसा कर सकता है? उनकी कुछ-एक कविताओं में अर्द्धनारीश्वर के उक्त मिथक की झलक तो आती है, लेकिन वे सिर्फ वैचारिक उक्तियां भर हैं, उन्होंने एक भी ऐसा ठोस चरित्र नहीं रचा जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों के गुण सम्मिलित रूप से दिखाई देते हों। ऐसा भी नहीं है कि पितृसत्तात्मक धारणाएं केवल उनके आरम्भिक काव्य में आई हैं। 'उर्वशी' उनके परिपक्व दौर की ही रचना है और

उसमें भी इकहरे चरित्रों को सचेत रूप से गढ़ा गया है। 'उर्वशी' की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि ''मेरी दृष्टि में पुरुरवा सनातन नर का प्रतीक है और उर्वशी सनातन नारी का।'' यानि स्त्री-पुरुष में कोई मौलिक भेद है जो सनातन काल से चला आ रहा है। सवाल यह है कि एक ही लेखक की दो विधाओं में ऐसा स्पष्ट अंतर्विरोध कहां से आया है?

संभवतः इसका कारण यह है कि दिनकर मूलतः कवि थे। कवि का अभ्यास वे किशोरावस्था से ही कर रहे थे और छायावाद के दौरान उन्होंने अपनी पहचान भी बना ली। द्विवेदी युग और छायावाद के संयुक्त प्रभाव से उनका काव्यबोध निर्मित हुआ और जीवन भर वे उसी मिजाज की कविताएं लिखते रहे। केवल अंतिम दो संग्रहों 'कोयला और कवित्व' तथा 'हारे को हरिनाम' पर ही परवर्ती काव्य आन्दोलनों (नई कविता) का कुछ प्रभाव नजर आता है, विशेषकर शिल्प में। इसकी तुलना में गद्य लेखन उन्होंने काफी देर से शुरू किया। सामाजिक-सांस्कृतिक मुद्दों पर लिखना तो उन्होंने और देर से आरम्भ किया। 'मिट्टी की ओर' (साहित्यिक निबंध, 1946) और 'चित्तौड़ का साका' (बाल कथाएं, 1949) को छोड़कर उनकी अन्य 25 गद्य-पुस्तकें 1950 के बाद प्रकाशित हुईं। 1950 से 55 के बीच 'संस्कृति के चार अध्याय' के लेखन के क्रम में उन्होंने भारतीय इतिहास एवं संस्कृत तथा विभिन्न विचारकों का गहन अध्ययन किया। इस अध्ययन के परिणाम उनके तमाम परवर्ती गद्य रचनाओं में दिखाई देते हैं। स्त्री-विषयक प्रश्नों पर विचार करते समय वे खासकर गांधी और (उससे भी अधिक) मार्क्स की मान्यताओं को अपने सामने रखते हैं। इसीलिए उनके वैचारिक लेखन में स्त्रियों के प्रति बहुत प्रगतिशील दृष्टिकोण देखने को मिलता है, लेकिन काव्य रचना के प्रसंग में वे नैतिकता, पौरुष और सौंदर्यबोध के अपने संस्कारों से ग्रस्त हो जाते हैंतथा उनका द्विवेदीयुगीन-छायावादी काव्यबोध इन संस्कारों के अनुकूल पड़ता है। जहां द्विवेदीयुगीन काव्यबोध राष्ट्रीय कविताओं में प्रबल रहता है वहीं छायावादी सौंदर्यबोध उनकी श्रृंगारिक रचनाओं मेंहावी होता है - दिनकर ने खुद स्वीकार किया है कि 'आत्मा मेरी रसवन्ती में बसती है।'

स्त्री-विषयक अधिकांश रचनाओं में दिनकर की लेखनी से 'रसवन्ती' की आत्मा ही अभिव्यक्त होती रही। वे आजीवन 'विधि की अम्लान कल्पना' को शब्दों में उतारने की साधना करते हुए कभी क्रांति को 'चिर-कुमारिका' की संज्ञा देते रहे तो कभी पानी का घड़ा

लेकर लौट रही ग्रामीण युवती के 'यौवन का दुर्वह भार' देखकर व्यथित होते रहे। यह 'अगुण-अमेय कल्पना' अंततः 'उर्वशी' के रूप में साकार हुई और तब वह गर्वपूर्वक कह सकी

जन जन के मन की मधुर वह्नि, प्रत्येक हृदय की उजियाली,
नारी की मैं कल्पना चरम नर के मन में बसने वाली।
*** *** ***
देवालय मैं देवता नहीं, केवल मैं हूं।
मेरी प्रतिमा को घेर उठ रही अगुरु गंध,
बज रहा अर्चना में मेरी मेरा नुपूर।[78]

'रसवन्ती' की 'नारी' शीर्षक कविता में उन्होंने बहुत से पुरुषों का मन बांधने वाली आधुनिकाओं की भर्त्सना की थी और इसे क्षणिक आनन्द बताते हुए उसे अपने भीतर की वास्तविक नारी को जगाने की सलाह दी थी। यहां दिनकर का आशय यह बिल्कुल नहीं था कि स्त्रियों को पुरुषों की उपेक्षा करके अपने व्यक्तित्व का विकास करना चाहिए। इसके उलट वह असल में ये सलाह दे रहे थे कि अपनी मादक भंगिमाओं से तुम पुरुष पर स्थायीत्व नहीं प्राप्त कर सकती। पुरुष की असली भूख कुछ और होती है, खुद को उसके अनुकूल बनाओ।'पुरुष वज्र लेखन का भूखा, सो वह लिखने वाली/ सात पत्थरों के नीचे है दबी अभी तक तुममें।'[79] सभी को रिझाना बुरा है, किसी एक के मन पर अपना वज्र लेख लिखो - एकनिष्ठ बनो। उर्वशी अप्सरा है उसपर धरती के कानून लागू नहीं होते, लेकिन वह भी एक पुरुष के प्रति समर्पित होकर ही 'उर्वशी' की नायिका बनती है।

प्राचीन काल से स्त्री के दो ही रूप साहित्य में समादृत रहे हैं, एक प्रिया का और दूसरा मां का। दोनों का संबंध प्रजनन से है। एक भूमिका में वह उसका स्वामी होता है तो दूसरे में स्वयं उससे रक्षित होने के चलते उसके प्रति पूज्य भाव होता है। कामिनी की निंदा करने वाले संतों ने भी इस मातृरूप की प्रशंसा ही की है। 'नारी' शीर्षक कविता में उन्होंने आधुनिक 'निरोधातुर बंध्याओं'को मातृत्व का महत्व समझाने की कोशिश की थी, उर्वशी उनकी इस कामना को भी पूरा करती है। 'उर्वशी' में दिनकर ने विह्वल भाव से मातृत्व की अभ्यर्थना विस्तार से की है। लेकिन मातृत्व की इस प्रशंसा को स्त्री पक्षधरता से जोड़कर नहीं देखा जाना चाहिए इसके उलट पितृसत्ता के भीतर यही स्त्री के लिए वैध पद और उसके जीवन की

सार्थकता मानी जाती है। इसीलिए वह सामंती साहित्य में भी आदरणीय बताई जाती रही है। मातृत्व महिमा के प्रसंग में दिनकर ने 'उर्वशी' में मोहक शब्दों के आवरण में लपेटकर पेश किया है[80] उन्हें स्पष्ट रूप से वे 'नारी' में बहुत पहले ही कह चुके थे।

सीधा योग नहीं नारी का जग के संघर्षों में;
बेटों के मुख से अपना संदेश कहा करती है।
पुरुष-धर्म, जूझे संगर में अपने तेजोबल से,
नारी की करवाल महत्तम है उसका बेटा ही।[81]

स्त्री-पुरुष के कर्म क्षेत्र के ऐसे स्पष्ट विभाजन के बाद घर संभालने, पति को तुष्ट करने, बच्चे पैदा करने और उन्हें पालने के अलावा स्त्री की और कौन सी भूमिका बचती है?

दिनकर के प्रति श्रद्धा भाव के बावजूद यह स्वीकार करना पड़ता है कि अन्य शोषित-पीड़ित समुदायों के साथ दिनकर ने जिस तरह सहानुभूति प्रदर्शित की है, उसकी तुलना में वे राष्ट्र की 'आधी आबादी' की पीड़ाओं को अपने साहित्य में व्यक्त करने में असफल रहे। स्त्रियों के प्रति उनकी सहानुभूति द्विवेदी युग से आगे नहीं बढ़ी और कहीं-कहीं तो वह गुप्तजी से भी पिछड़ जाती है। 'राजा-रानी' कविता में वे सीता की अग्निपरीक्षा और निष्कासन के प्रसंग में राम को निष्ठुर जरूर कहते हैं किन्तु 'रश्मिरथी' में उसी प्रसंग का इस्तेमाल वे महान त्याग के उदाहरण के तौर पर गर्वपूर्वक करते हैं[82] 'उर्वशी' में औशीनरी को तो उन्होंने पुरुरवा का अपराधी ही घोषित कर दिया है। शायद यह दिनकर का छायावादी काव्य संस्कार था जिसके परिणामस्वरूप उन्हें मांसल नारी की वायवीय कल्पना हमेशा आकर्षित करती रही, जबकि चूल्हे-चौके और खेत-खलिहान से लेकर सड़क पर पत्थर तोड़ती वास्तविक औरतें उनके काव्य से अनुपस्थित रहीं।

संदर्भ

[1] रामधारी सिंह दिनकर, परशुराम की प्रतीक्षा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृष्ठ 35
[2] आजकल, अक्टूबर 2008, पृष्ठ 40
[3] जयसिंह नीरद, दिनकर के काव्य में परम्परा और आधुनिकता, अनुराधा प्रकाशन, मेरठ, 1984, पृष्ठ 111
[4] रामधारी सिंह दिनकर, प्रणभंग तथा अन्य कविताएं, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1997, पृष्ठ 34
[5] वही, पृष्ठ 3
[6] गोपाल राय, राष्ट्रकवि दिनकर, ग्रंथ निकेतन, पटना, 1975, पृष्ठ 110
[7] डा. जयसिंह 'नीरद', दिनकर के काव्य में परम्परा और आधुनिकता, पूर्वोक्त, पृष्ठ 118
[8] रामधारी सिंह दिनकर, कुरुक्षेत्र, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 2007, पृष्ठ 17
[9] रामधारी सिंह दिनकर, रश्मिरथी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृष्ठ 22
[10] जयसिंह नीरद, दिनकर के काव्य में परम्परा और आधुनिकता, पूर्वोक्त, पृष्ठ 9
[11] रामधारी सिंह दिनकर, परशुराम की प्रतीक्षा, पूर्वोक्त, पृष्ठ 21
[12] रामधारी सिंह दिनकर, रेणुका, उदयाचल, पटना, 1979, पृष्ठ 12
[13] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005, पृष्ठ 17
[14] वही, पृष्ठ 18
[15] वही, पृष्ठ 18
[16] सावित्री सिन्हा (सम्पादिका), दिनकर, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1967, पृष्ठ 47
[17] रामधारी सिंह दिनकर, कुरूक्षेत्र, पूर्वोक्त, पृष्ठ 17
[18] रामधारी सिंह दिनकर, चक्रवाल, अनुपम प्रकाशन, पटना, 2005, पृष्ठ 38
[19] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, पूर्वोक्त, पृष्ठ 67
[20] रामधारी सिंह दिनकर, नीम के पत्ते, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1999, पृष्ठ 20
[21] वही, पृष्ठ 20
[22] रामधारी सिंह दिनकर, अर्द्धनारीश्वर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1989, पृष्ठ 84
[23] रामधारी सिंह दिनकर, नीम के पत्ते, पूर्वोक्त, पृष्ठ 21
[24] रामधारी सिंह दिनकर, अर्धनारीश्वर, पूर्वोक्त, पृष्ठ 84
[25] वही, पृष्ठ 85
[26] रामधारी सिंह दिनकर, कुरूक्षेत्र, पूर्वोक्त, पृष्ठ 82
[27] वही, पृष्ठ 85
[28] वही, पृष्ठ 78
[29] वही, पृष्ठ 89
[30] रामधारी सिंह दिनकर, नील कुसुम, पूर्वोक्त, पृष्ठ 118
[31] रामधारी सिंह दिनकर, रश्मिरथी, पूर्वोक्त, पृष्ठ 20
[32] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, पूर्वोक्त, पृष्ठ 87
[33] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृष्ठ 8
[34] रामधारी सिंह दिनकर, रेणुका, पूर्वोक्त, पृष्ठ 37
[35] रामधारी सिंह दिनकर, हमारी सांस्कृतिक एकता, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1999, पृष्ठ 23
[36] वही, पृष्ठ 30
[37] वही, पृष्ठ 3
[38] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, पूर्वोक्त, पृष्ठ 87

[39] सुमित सरकार, आधुनिक भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1993, पृष्ठ 453
[40] वही, पृष्ठ 453
[41] वही, पृष्ठ 454
[42] रजनी पाम दत्त, भारतः वर्तमान और भावी, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली, संस्करण 2000, पृष्ठ 278
[43] रामधारी सिंह दिनकर, सामधेनी, पूर्वोक्त, पृष्ठ 30-31
[44] रामधारी सिंह दिनकर, नील कुसुम, पूर्वोक्त, पृष्ठ 112-13
[45] रामधारी सिंह दिनकर, रेणुका, पूर्वोक्त, पृष्ठ 26
[46] वही, पृष्ठ 25
[47] वही, पृष्ठ 26
[48] रामधारी सिंह दिनकर, नीलकुसुम, पूर्वोक्त, पृष्ठ 75
[49] रामधारी सिंह दिनकर, कुरुक्षेत्र, पूर्वोक्त, पृष्ठ 80
[50] रामधारी सिंह दिनकर, परशुराम की प्रतीक्षा, पूर्वोक्त, पृष्ठ 10
[51] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पूर्वोक्त, पृष्ठ 267
[52] रामधारी सिंह दिनकर, रश्मिरथी, पूर्वोक्त, पृष्ठ 11
[53] वही, पृष्ठ 20
[54] कन्हैयालाल फूलफगर (संपादक), दिनकर के पत्र, दिनकर शोध संस्थान, कलकत्ता, 1981, पृष्ठ 209
[55] रामधारी सिंह दिनकर, रश्मिरथी, पूर्वोक्त, पृष्ठ 9
[56] वही, भूमिका
[57] वही, भूमिका
[58] रामाज्ञा राय शशिधर, संस्कृति का क्रांतिकारी पहलू, प्रतिबिम्ब प्रकाशन, सिमरिया, पृष्ठ 6
[59] रामधारी सिंह दिनकर, रश्मिरथी, पूर्वोक्त, पृष्ठ 11
[60] वही, पृष्ठ 10
[61] वही, पृष्ठ 11
[62] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पूर्वोक्त, पृष्ठ 47-48
[63] रामधारी सिंह दिनकर, चक्रवाल, पूर्वोक्त, पृष्ठ 37
[64] रामधारी सिंह दिनकर, रेणुका, पूर्वोक्त, पृष्ठ 46
[65] वही, पृष्ठ 46-47
[66] वही, पृष्ठ 48
[67] रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, लोकभारती, इलाहाबाद, 2006, पृष्ठ 24
[68] वही, पृष्ठ 28
[69] सुलक्षणा शर्मा, उर्वशी में कामाध्यात्म?, विनीत पब्लिशर्ज, नई दिल्ली, 1982, पृष्ठ 126
[70] रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पूर्वोक्त, पृष्ठ 127
[71] रामधारी सिंह दिनकर, रश्मिरथी, पूर्वोक्त, पृष्ठ 65
[72] वही, पृष्ठ 72
[73] रामधारी सिंह दिनकर, रसवन्ती, उदयाचल, पटना, 1987, पृष्ठ 48
[74] वही, पृष्ठ 53
[75] रामधारी सिंह दिनकर, वेणुवन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1989, पृष्ठ 3-4
[76] वही, पृष्ठ 5
[77] रामधारी सिंह दिनकर, चिंतन के आयाम, लोकभारती, इलाहाबाद, 2008, पृष्ठ 191-92
[78] रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पूर्वोक्त, पृष्ठ 75-76
[79] रामधारी सिंह दिनकर, रसवन्ती, पूर्वोक्त, पृष्ठ 49

[80] 'अपनी सहज भूमि नारी की धूप नहीं, छाया है/ इतिहासों की सकल दृष्टि केन्द्रित, बस, एक क्रिया पर/ किन्तु नारियां क्रिया नहीं, प्रेरणा, प्रीति, करुणा हैं...'
तथा 'नारी क्रिया नहीं, वह केवल क्षमा, क्षान्ति, करुणा है।' रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृष्ठ 127-28

[81] रामधारी सिंह दिनकर, रसवन्ती, पूर्वोक्त, पृष्ठ 53

[82] 'जहां कहीं है ज्योति जगत में, जहां कहीं उजियाला/ वहां खड़ा है कोई अंतिम मोल चुकाने वाला/ व्रत का अंतिम मोल राम ने, दिया त्याग सीता को/ जीवन की संगिनी, प्राण की मणि को, सुपुनीता को।' रामधारी सिंह दिनकर, रश्मिरथी, पूर्वोक्त, पृष्ठ 47-48

अध्याय तीन

दिनकर के काव्य में वर्गीय चेतना

आर्थिक विषमता की पृष्ठभूमि

आर्थिक असमानता और उच्चवर्ग

मध्यवर्ग की बदलती भूमिका

किसान, मजदूर और निम्नवर्ग

'मैं जीवन भर गांधी और मार्क्स के बीच झटके खाता रहा हूं।' - दिनकर

स्वतंत्रता के साथ-साथ समानता भी वास्तविक लोकतंत्र की अनिवार्य शर्त है। असल में अगर समानता न हो तो स्वयं स्वतंत्रता का अर्थ बहुत सीमित हो जाता है। इसी तरह समानता के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पहलू के बीच बहुत फर्क होता है। वर्ग विभाजित समाज में सैद्धांतिक समानता किसी को शोषित होने अथवा भूखे मरने से नहीं बचा सकती। 'स्वराज' के जिस सपने ने देश के करोड़ों लोगों को औपनिवेशिक व्यवस्था से टकराने के लिए प्रेरित किया था उसमें कहीं न कहीं वास्तविक समानता की आकांक्षाएं भी निहित थीं। यही वजह थी कि जैसे-जैसे राष्ट्रीय आन्दोलन आगे बढ़ता गया किसानों, मजदूरों, दलितों और आदिवासियों के सवाल भी उसका अंग बनते गए। यह संभव नहीं रह गया था कि हम विदेशी शोषकों के विरुद्ध संघर्ष का आह्वान करें और देशी शोषकों को वरेण्य ठहराएं। विदेशी सत्ता से मुक्ति पाना राष्ट्रीय आन्दोलन का पहला घोषित लक्ष्य जरूर था किन्तु उसका उद्देश्य स्वराज्य स्थापित करना था और जनता की नजरों में स्वराज्य का अर्थ 'सुराज' भी था। सुराज की यह आकांक्षा दिनकर की कविताओं में भी लगातार व्यक्त होती है।

दिनकर की कविताएं जनता की बहुविध पीड़ाओं को अभिव्यक्त करती हैं और स्वतंत्रता को इन सभी पीड़ाओं के समाधान के रूप में कल्पित करती हैं। स्वाभाविक है कि सामाजिक-आर्थिक शोषण से मुक्ति की मांग भी इन कविताओं में निहित है। यहां फिर से रेखांकित करना जरूरी है कि दिनकर किसी एक विचारधारा के कट्टर प्रचारक नहीं थे, वे कांग्रेसियों, सोशलिस्टों और कम्युनिस्टों से संवाद करते हुए अपनी दिशा तलाश रहे थे। इन सभी के साथ संवाद-विवाद करते हुए उनकी कविताएं अपने समय-समाज को चित्रित करती हैं। गौर करने की चीज यह है कि एक तरफ तो दिनकर की कविताओं में असमानता के खिलाफ तीव्र आक्रोश और क्रांति तक का आह्वान है तो वहीं दूसरी ओर वे मार्क्सवादियों की प्रचलित शब्दावली 'पूंजीपति-सर्वहारा' इत्यादि का प्रयोग बिल्कुल नहीं करते। इस अध्याय में हम भारतीय समाज के विभिन्न तबकों के प्रति दिनकर के रवैये और दृष्टिकोण का अध्ययन करेंगे।

आर्थिक विषमता की पृष्ठभूमि

भारत की समृद्ध स्थिति दुनिया भर के व्यापारियों और शासकों का ध्यान सदियों पहले से अपनी ओर खींचती रही थी। कपड़ों और मसालों के व्यापार का आकर्षण ही ईस्ट इंडिया कम्पनी के आगमन की वजह बना। सत्रहवीं सदी में भारत का कृषि क्षेत्र बहुत ही उन्नत था और वस्त्र उद्योग इस हद तक विकसित था कि दुनिया भर में भारतीय कपड़ों का निर्यात होता था। व्यापारिक मुनाफे और सस्ते माल के लिए कंपनी ने बंगाल में अपनी जड़ें फैलानी आरम्भ कर दीं। सैन्य शक्ति के विस्तार से कंपनी ने सत्ता-संघर्षों में हस्तक्षेप शुरू किया जिसके फलस्वरूप उसने पहले बंगाल में राजस्व और न्याय अधिकार हासिल किये और अंततः भारत पर अपना शासन स्थापित कर दिया।

जो कंपनी पहले भारत में बने कपड़े ब्रिटेन और दूसरे देशों में निर्यात कर रही थी, उसने आगे चलकर भारत को अपनी (इंग्लैंड की) फैक्ट्रियों में बने कपड़े का बाजार बना दिया। भारत के कपड़ा उद्योग का आधार भारतीय बुनकर थे। श्रम की अधिकता कपड़ों की लागत भी अधिक कर देती थी, इसके उलट इंग्लैंड की फैक्ट्रियों में मशीन से बनने वाले कपड़े भारत में काफी सस्ते दामों पर बेचे जा रहे थे। इसने भारत के ही भीतर देशी कपड़ों की खपत को घटा दिया। दूसरी तरफ कपड़ों के आयात और निर्यात के लिए बनाए गए नियमों में भी ब्रिटेन ने भेदभावपूर्ण रवैया अपनाया। 1840 के ''हिन्दुस्तान में विलायती रेशम और सूती माल पर साढ़े तीन फीसदी चुंगी लगती थी; पर हिन्दुस्तान का जो सूती कपड़ा विलायत में आता था, उस पर दस फीसदी, रेशमी कपड़ों पर 20 फीसदी और ऊनी माल पर 30 फीसदी चुंगी लगती थी।''[1] ब्रिटेन की इस रणनीति का सीधा प्रभाव वहां भारतीय कपड़ों की खरीददारी पर पड़ा। कंपनी की इन रणनीतियों ने भारत के वस्त्र उद्योग को तबाह कर दिया। कंपनी की स्थिति भारत में ज्यों-ज्यों मजबूत होती गई, भारतीय उद्योगों को उसने उतनी ही कठिन परिस्थितियों में डाल दिया।

बीसवीं सदी के औपनिवेशिक शासन तंत्र की जिन शोषणपरक मनमानियों से हम भली-भांति परिचित हैं, बंगाल में न्याय और राजस्व अधिकार हासिल करने के बाद ही उनका आरम्भ हो चुका था। राजतंत्र पर कंपनी की पकड़ का प्रत्यक्ष प्रभाव अठारहवीं सदी में ही

दिख गया। कंपनी शासन के कुछ ही वर्षों के भीतर बंगाल भयानक अकाल की चपेट में चला गया, इस अकाल में सैकड़ों लोग रोज मर रहे थे किन्तु कम्पनी ने लगान वसूली में जरा भी ढील नहीं दी थी।

राजस्व पर नियंत्रण के बाद कंपनी ने अधिकतम कर वसूली के नए-नए तरीके खोजने आरम्भ किये। भूमि संबंध और लगान व्यवस्था के क्षेत्र में कंपनी ने कई प्रयोग किये, स्थायी बन्दोबस्त उसके सभी प्रयोगों में सबसे अधिक सफल रहा। स्थायी बंदोबस्त से पहले किसान उपज के आधार पर स्थानीय प्रशासक को लगान अदा करते थे। भूमि का मालिकाना हक राजा का हुआ करता था, लेकिन उसपर रहने और खेती करने वाले उस भूमि के पारम्परिक अधिकारी होते थे। नई व्यवस्था में कंपनी ने लगान वसूली के अधिकार नीलाम किये। कंपनी को तयशुदा लगान न मिलने पर जमींदार के अधिकार छीन लिये जाते और लगान न देने की स्थिति में किसान को भूमि से बेदखल कर दिया जाता। अधिकतम मुनाफे के इस धंधे में अधिकार उन लोगों को भी नीलाम किये गए जिनका किसानों और कृषि क्षेत्र से कोई लेना-देना तक नहीं था। न केवल इन अधिकारों को खरीदने वाला जमींदार, कंपनी द्वारा तय की गई रकम को मनचाहे ढंग से वसूलने का अधिकारी था, बल्कि जिनसे कर्ज लेकर किसान अपनी जरूरते पूरा करते और लगान भरते थे उन महाजनों को भी किसान की बेदखली का अधिकार सौंप दिया गया। इस नई व्यवस्था में अपनी रैयतों के प्रति हमदर्दी रखने वाले जमींदार टिक नहीं सके क्योंकि दयनीय होती जा रही स्थितियों में किसानों पर ज्यादती किये बिना तयशुदा लगान वसूलना संभव नहीं था।

यह और भी दुखद है कि जहां पारम्परिक व्यवस्था में कृषि पैदावार बढ़ाने और सिंचाई आदि के संसाधनों को बेहतर बनाने की जिम्मेदारी तत्कालीन शासकों की हुआ करती थी, वहीं कंपनी ने इसके लिए कोई प्रयास नहीं किया। नहरों द्वारा सिंचाई की पुरानी व्यवस्था, रेलवे लाइनें बिछाने की प्रक्रिया में तहस-नहस कर दी गईं। कृषि क्षेत्र जिसका प्राथमिक उद्देश्य अनाज उपजाना और खाद्यान्न की स्थानीय जरूरतों को पूरा करना था, औपनिवेशिक मुनाफे की भेंट चढ़ गया। कई स्थानों पर नील इत्यादि निर्यातक फसलों को उगाने का औपनिवेशिक दबाव भी किसानों को झेलना पड़ा। कंपनी और ब्रिटिश राज की नीतियों के चलते भारतीय कृषि क्षेत्र धीरे-धीरे तबाह होता गया। बीसवीं सदी में हालात यहां तक पहुंच

गए कि ''युक्तप्रांत में सैकड़ों किसान लगान न दे सकने के कारण जमीन छोड़ने लगे। 1931 में इनकी तादाद 71,430 तक पहुंच गई। जबरदस्ती मालगुजारी वसूल करने के लिए 2,56,284 हुक्मनामे जारी किए गए।''[2] लगान और कर्ज आदि की स्थितियों ने छोटे किसानों को मजदूर बनने पर विवश कर दिया।

हमने पीछे देखा कि कपड़े पर लगने वाली चुंगी ब्रिटिश पूंजीपतियों के लाभ को सुनिश्चित करती थी। इसका महत्वपूर्ण पहलू यह है कि औपनिवेशिक प्रशासन भारत में औद्योगीकरण को बढ़ावा देने का बिल्कुल भी इच्छुक नहीं था। कंपनी ने व्यापार की सुगमता के लिए ट्रेन की लाइनें तो बिछाईं किन्तु यातायात की यह व्यवस्था भी भारत के आद्योगीकरण में सहायक नहीं हो सकी क्योंकि भारत में ट्रेन के इंजनों तक का आयात किया गया। आजादी तक भारत में 12000 इंजन आयात किये गए जबकि केवल 700 इंजनों का ही निर्माण हुआ।[3]

भारत का कपड़ा उद्योग बुनकरों पर आधारित था। यहां इंग्लैंड की तरह फैक्ट्रियां नहीं थीं। भारतीय समृद्ध व्यक्तियों ने यहां कपड़े, चमड़े इत्यादि से जुड़ी फैक्ट्रियां खोलने के कई प्रयास किये लेकिन उनमें से बहुत कम सफल हो सके। मजदूरों की अधिकता उनके श्रम के दोहन की संभावना पैदा कर रही थी और उस संभावना का पूरा इस्तेमाल करना कमजोर औद्योगिक क्षेत्र को ताकत प्रदान करने का एकमात्र उपाय था। एक सरकारी रिपोर्ट में भारत के मजदूरों की स्थिति को बताते हुए कहा गया कि ''कुशल कारीगरों को छोड़कर हिन्दुस्तान के मजदूरों को इतनी पगार मिलती है कि मुश्किल से ही उससे उनका पेट भर सकता है और तन ढंक सकता है। हर जगह इनकी बस्तियों में ठूंसाठूंस मची हुई है। गंदगी और तबाही की कोई हद नही।''[4] 'बस्तियों में ठूंसाठूंस' से क्या तात्पर्य है और यह किस हद तक अमानवीय थी इसे औद्योगिक कमीशन को दिये गए एक गवाह के बयान से समझा जा सकता है

> दस फीट चौड़ी दस फीट लम्बी कोठरी में, जहां हिलने की भी मुश्किल से जगह मिलती है, पूरे कुनबे के कुनबे सोते हैं, बच्चे पैदा करते हैं... पुराने मकानों की ऊपर की मंजिलों में कोठरियां क्या होती हैं, ढलुआ छत के नीचे छोटे-छोटे दरबे होते हैं जिनमें आदमी सीधा खड़ा भी नहीं हो सकता। पीछे के कमरों में अंधागुप्प बना रहता है और जब तक आंखें उस अंधेरे की आदी नहीं हो जातीं तब तक वहां रहने वाले जीव दिखाई नहीं देते।[5]

हम देख सकते हैं कि खाने, पहनने और रहने, तीनों ही धरातलों पर भारतीय मजदूर अत्यंत दयनीय स्थिति में जी रहे थे। महत्वपूर्ण यह है कि मजदूरों को इन अमानवीय स्थितियो में धकेलने के बावजूद भारत के औद्योगीकरण की गति काफी धीमी थी।

बीसवीं सदी का पूर्वाद्ध जो राष्ट्रीय आन्दोलन तथा दिनकर के साहित्यिक हस्तक्षेप का समय है, उपरोक्त आर्थिक स्थितियां उसकी पृष्ठभूमि हैं। कृषि क्षेत्र की लूट ने बड़ी संख्या में बेरोजगार पैदा किये। किसान मजदूर बन गए। जमींदार औपनिवेशिक प्रशासन की नीतियों पर पलने वाले लुटेरों की भूमिका निभाने लगे और भारत की स्थिति बद से बदतर होती गई। यह स्पष्ट है कि औपनिवेशिक नीतियों ने इंग्लैंड के पूंजीवाद को विकसित करने के लिए भारतीय कृषि के साथ-साथ आद्योगीकरण की भी बलि दे दी। अत्यधिक शोषण की परिस्थितियों से परिचित होते हुए भी बेरोजगारों की लम्बी फौज के लिए मजदूर बनना सबसे बेहतर विकल्प था क्योंकि फैक्ट्रियों के बाहर स्थिति और भयावह थी।

औपनिवेशिक शासन की गिरफ्त में पड़ा भारत सामंती और पूंजीवादी ढांचे के बीच फंस गया था। एक ओर वह यातायात के आधुनिक संसाधनों का प्रयोग कर रहा था, तो दूसरी ओर न्यूनतम लागत और अधिकतम श्रम के पुराने ढांचे पर कृषि व्यवस्था को चलाने के लिए मजबूर था। वह तकनीक का प्रयोग तो कर रहा था, लेकिन तकनीकी तौर पर उन्नत नहीं हो रहा था। आशय यह कि तकनीकें ऊपर से थोप दी गई एक ऐसी चीज थीं जिसकी आधार भूमि भारत में तैयार नहीं हो रही थी। इन स्थितियों से उबरने के लिए स्वराज्य का आन्दोलन बेहद जरूरी था।

औपनिवेशिक शासन से आजादी का एक बड़ा लाभ भारत के आधुनिकीकरण का ही था। आजादी के बाद भारत में कृषि व्यवस्था में भी सुधार हुआ और औद्योगिक क्षेत्र में भी। हालांकि स्वराज्य से जो अपेक्षाएं थी, वह उसी रूप में फलित नहीं हुईं। भारत में भूमि सुधार की योजना तो बनी, लेकिन कुछेक जगहों को छोड़कर उसे लागू नहीं किया जा सका। भारतीय उद्योग-धंधों को बढ़ावा देने वाली शासन व्यवस्था तो लागू हुई किन्तु रोजगार के अवसरों और जीवन स्थितियों में अपेक्षित सुधार नहीं हो सका। प्राक्-औपनिवेशिक भारत भी शोषण से मुक्त नहीं था लेकिन उपनिवेशवाद ने शोषण के पुराने रूपों को जारी रखने के साथ-साथ शोषण के कुछ नए रूप भी पैदा किए। बेरोजगारी जैसी एक नई समस्या पैदा की तथा पहले

से मौजूद आर्थिक विषमता की खाई को इसने और चौड़ा किया। इसने असंख्य इंसानों को पशुओं से भी बदतर जीवन जीने के लिए मजबूर कर दिया। औपनिवेशिक दौर का यही वीभत्स यथार्थ दिनकर की कविताओं में प्रतिबिम्बित होता है।

आर्थिक असमानता और उच्चवर्ग

दिनकर के साहित्य में उच्चवर्ग का जिक्र दो रूपों में आता है। पहले रूप में उच्चवर्ग के वे सदस्य शामिल हैं जिनके गुणों के कारण दिनकर ने उनकी प्रशंसा की है अथवा उन्हें नायकत्व प्रदान किया है। ऐसे पात्रों में कर्ण, अशोक, चन्द्रगुप्त, अकबर इत्यादि पौराणिक-ऐतिहासिक चरित्रों से लेकर समकालीन जवाहरलाल नेहरू तक शामिल हैं। ऐसे सकारात्मक पात्रों की संख्या सीमित है।दूसरी श्रेणी में इन नायकों की नीतियों के विरुद्ध सक्रिय तमाम पूरा उच्चवर्ग है। दुर्योधन जैसे कुछेक उदाहरणों को छोड़ दें तो दिनकर इस खल श्रेणी के प्रतिनिधियों के नाम चिन्हित करने की जरूरत नहीं समझते। यह पूरी दूसरी श्रेणी शोषकों की है और यही उच्चवर्ग के सामान्य चरित्र का प्रतिनिधित्व करती है। इसमें सामंती राजे-रजवाड़ों से लेकर औपनिवेशिक जमींदार और प्रशासक, सेठ और महाजन, देशी-विदेशी पूंजीपति अथवा नेता और अधिकारी सभी शामिल हैं।

इस श्रेणीकरण से एक बात तत्काल समझ में आती है कि दिनकर के लिए शोषण के पद्धतिगत रूपों (जैसे सामंती, औपनिवेशिक अथवा पूंजीवादी) अथवा व्यवस्था में इन शोषकों की विशिष्ट पेशागत भूमिकाओं (जमींदार, पूंजीपति, नेता इत्यादि) का कोई विशेष महत्व नहीं है। इन जटिलताओं में जाने की बजाय वे सीधे-सरल ढंग से इन्हें अमीरों और गरीबों में बांटकर देखते हैं। ऐतिहासिक-सांस्कृतिक प्रतीकों में अपनी रुचि के चलते दिनकर अक्सर समस्याओं के कालबद्ध रूपों की बजाय उनके शाश्वत पहलुओं पर ज्यादा जोर देते हैं। 'कुरुक्षेत्र' में दिनकर ने युद्ध को एक शाश्वत समस्या के रूप में लिया था और 'उर्वशी' में वे स्त्री-पुरुष के शाश्वत आकर्षण को समझने पर जोर देते हैं।

ऐतिहासिक-पौराणिक पात्रों से संबंधित कई रचनाओं में दिनकर ने शासकों की धनलिप्सा और विलास की आलोचना की है। उनकी यह धनलिप्सा ही युद्धों का कारण बनती है। सत्ता का अहंकार जनता के जीवन से बड़ा हो जाता है। दिनकर ने उन्हीं प्राचीन पात्रों को अपना नायक बनाया है जिन्होंने जनता के सुख को अपने शासन का ध्येय समझा। 'कलिंग विजय' में युद्ध के बाद विजेता अशोक के मन में ग्लानि का भाव उदित होता है और वह आत्मभर्त्सना करता है। उसकी इस आत्मभर्त्सना में शासक वर्ग की लोलुप प्रवृत्तियों की आलोचना शामिल है

हाय रे धनलुब्ध जीव कठोर!
हाय रे दारुण! मुकुटधर भूप लोलुप, चोर
साज कर इतना बड़ा सामान,
स्वत्व निज सर्वत्र अपना मान।
खड्ग-बल का ले मृषा आधार
छीनता फिरता मनुज के प्राकृतिक अधिकार।[6]

आत्मभर्त्सना का यह स्वर 'कुरुक्षेत्र' में सर्वत्र व्याप्त है। कुरुक्षेत्र का युद्ध इस बात का प्रमाण है कि राज्यलिप्सा स्वयं अपने बंधु-बांधवों की हत्या का प्रेरणास्रोत बन सकती है। लेकिन 'कुरुक्षेत्र' का युद्ध-दर्शन कोरी भावुकता नहीं है। इस परिपक्व कृति में दिनकर ने युधिष्ठिर-भीष्म संवाद के जरिये राज्य के उदय पर विचार करते हुए पाया कि राज्य परस्पर संघर्षरत समूहों में संतुलन लाने के लिए अस्तित्व में आता है, लेकिन स्वयं उसका अस्तित्व दूसरों के स्वत्वहरण के जरिये कायम रहता है। राजतंत्र की आलोचना करते हुए भीष्म कहते हैं 'राजतंत्र द्योतक है नर की, मलिन निहीन प्रकृति का/मानवता की ग्लानि और कुत्सित कलंक संस्कृति का।'[7] 'कुरुक्षेत्र' में स्पष्ट किया गया है कि जब तक शोषण और विषमता है तब तक युद्ध भी अपरिहार्य है। 'रश्मिरथी' के द्वितीय सर्ग में राज्यलिप्सा और युद्ध के लिए राजाओं की आलोचना की गई है। दिनकर का मानना है कि ''जब तक मनुष्य के भीतर लोभ, छल और कपट पैदा नहीं हुए थे, तब तक न तो सरकार थी, न कोई राजा था। आगे भी जब मनुष्य लोभ, छल और कपट से मुक्त हो जाएगा, राज्यसत्ता विलुप्त हो जाएगी और मनुष्य को सरकार की आवश्यकता नहीं रहेगी। गांधी और मार्क्स ने इस शासन-मुक्त समाज की कल्पना अपने-अपने ढंग पर की है।''[8]

ऐसा प्रतीत होता है कि आर्थिक शोषण की समस्या को भी दिनकर ने एक शाश्वत समस्या के रूप में लिया इसीलिए उनकी कविताओं में अतीत और वर्तमान के उदाहरण एकसाथ घुल-मिल कर आते हैं। 'विपथगा' कविता में क्रांति अपने आगमन के जो कारण बताती है, वे अतीत से लेकर वर्तमान तक सबपर लागू होते हैं।

धन के विलास का बोझ दुखी, दुर्बल, दरिद्र जब ढोता है,
दुनिया को भूखों मार भूप जब सुखी महल में सोता है,
सहती सबकुछ मन मार प्रजा कसमस करता मेरा यौवन।
झन-झन-झन-झन-झन-झनन-झनन।

इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने की चीज है कि शोषण के प्रसंग में दिनकर पूंजीपति या जमींदार इत्यादि शब्दों का इस्तेमाल नहीं करते। इसके लिए वे देवलोक अथवा स्वर्ग से संबंधित प्रतीकों का इस्तेमाल करते हैं। एक ही धरती पर रहने वाले अमीरों और गरीबों में इतना फर्क है कि वे दो अलग-अलग दुनियाएं प्रतीत होते हैं। दिनकर गरीबों को धरती का और अमीरों को स्वर्ग का वासी बताते हैं। दिनकर की कविताओं में स्वर्ग,[9] सुरपुर,[10] सुर,[11] सुरपति,[12] स्वर्ग के सम्राट,[13] देव,[14] इन्द्र[15] इत्यादि प्रतीक विलासी धनपतियों (आधुनिक देवताओं) के सन्दर्भ में ही आते है। दिनकर की दृष्टि में यह बात पूरी तरह स्पष्ट है कि अल्पसंख्यक उच्चवर्ग का अतिशय भोगवाद ही बहुसंख्यक जनता की दरिद्रता का कारण है। इसीलिए आमतौर पर वे अपनी कविताओं में भोग और दरिद्रता के दो चरम उदाहरणों को आमने-सामने रखते हैं।

कहीं दूध के बिना तरसती मानव की संतान,
कहीं क्षीर के मटके खाली करते जाते श्वान।
कहीं वसन रेशम के सस्ते, महंगी कहीं लंगोटी,
कोई घी से नहा रहा, मिलती न किसी को रोटी।
इस समाज की एक दवा है आग और उत्क्रांति[16]

संपत्ति का समतापरक पुनर्वितरण ही इस गैर-बराबरी को दूर कर सकता है, लेकिन विलासी देवताओं को इस समता से घृणा है। जीवन की बुनियादी की जरूरतों को भी पूरा कर पाने में असमर्थ धरतीवासियों की पीड़ाओं को देखकर कवि का मन तड़प उठता है। अबोध

शिशुओं की भूख शान्त करने के लिए वह गगन के देवताओं से दूध की कुछ बूंदे टपका देने की प्रार्थना करता है, लेकिन तब भी कुछ नहीं होता। ऐसे में उसे स्वर्ग को लूटने के अलावा और कोई विकल्प नजर नहीं आता।

हटो व्योम के मेघ, पंथ से स्वर्ग लूटने हम आते हैं
दूध, दूध ओ वत्स! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं।[17]

स्वर्ग के वासियों को इस तरह की चेतावनी कवि ने कई कविताओं में दी है। जाहिर है कि जिस स्वर्ग की बात दिनकर कर रहे हैं, वह धरती पर ही है, लेकिन उसे लूट सकना अकेले कवि के बस की बात नहीं है। कई बार इस विषमता से हताश होकर दिनकर इस सृष्टि के विनाश की कामना करने लगते हैं। 'तांडव' शीर्षक कविता में कवि भगवान शिव से पुनः तांडव करने की प्रार्थना करता है ताकि सम्पूर्ण विकास के बाद फिर से नई सृष्टि का निर्माण हो। इसी भाव से वह क्रांति की भी अभ्यर्थना करता है। उसे यह नहीं पता कि विपथगा कब किस ओर से आएगी, लेकिन इतना निश्चय है कि अत्याचारों के असहनीय हो जाने पर क्रांति अपरिहार्य हो जाती है। 'रेणुका' और 'हुंकार' संग्रह की कई कविताओं में प्रलय अथवा क्रांति की कामना व्यक्त की गई है। इसी तरह की विद्रोही कविताओं के कारण बेनीपुरी ने उन्हें 'क्रांति का कवि' कहा था।

स्वतंत्रता के बाद इस तरह की प्रलय कामना दिनकर की रचनाओं में नहीं आती। स्वतंत्रता से दिनकर को बहुत गहरी उम्मीदें थीं। समाजवाद उस समय जनता के एक बड़े हिस्से के साथ-साथ प्रगतिशील बौद्धिकों और सोशलिस्ट नेताओं की पहली पसंद था, हालांकि अलग-अलग लोगों के लिए शायद इसके आशय भी भिन्न-भिन्न थे। नेहरू के मन में समाजवाद के लिए जो आकर्षण था शायद वह भी दिनकर को आश्वस्त करता था। स्वतंत्रता प्राप्ति के आरम्भिक वर्षों में दिनकर ने जो उत्साह भरी कविताएं लिखी हैं, उनमें समाजवाद की आदर्श कल्पना अंतर्निहित है। 'जनतंत्र का जन्म' कविता में वे पूरे आत्मविश्वास से दावा करते हैं कि समय बदल चुका है अब फावड़े और हल राजदंड का स्थान ले लेंगे, पुराने देवताओं को विस्थापित कर दिया जाएगा और मेहनतकश जनता उनका स्थान ले लेगी।

आरती लिए तूं किसे ढूंढ़ता है मूरख/ मंदिरों, राज प्रासादों में, तहखानों में?
देवता कहीं सड़कों पर गिट्टी तोड़ रहे/ देवता मिलेंगे खेतों में, खलिहानों में।

फावड़े और हल राजदंड बनने को हैं/ धूसरता सोने से श्रृंगार सजाती है;
दो राह समय के रथ का घर्घर नाद सुनो/ सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।[18]

सिंहासन खाली करो का अर्थ केवल यह नहीं है कि की गोरे साहबों का स्थान भूरे साहब ले लेंगे। अगर सिंहासन पर जनता को बैठाने का अर्थ न केवल यह है कि सभी निर्णय जनहित में लिए जाएंगे बल्कि उसका अर्थ यह भी है कि जनता में ही सम्पूर्ण सत्ता अंतर्निहित होगी। ऐसे में प्रलय या क्रांति की आवश्यकता ही क्या रह जाती है। अपनी कविताओं में दिनकर उम्मीद करते हैं कि समुद्र मंथन हो चुका है कालकूट विष का पान भी हो चुका है, अब बस अमृत के निकलने का इंतजार है।[19] एक अन्य कविता में 'अरुणोदय' में वे इन्द्र के गढ़ पर ध्वजा फहराने और अमृत घट पर कब्जा करने का इरादा व्यक्त करते हैं।[20]

उक्त बातों से यही मंतव्य प्रकट होता है कि जनपक्षधर नीतियों द्वारा अमीरी-गरीबी के बीच की खाई खत्म कर दी जाएगी। लेकिन जनतंत्र के जरिये समाजवाद नहीं आया और बहुत जल्दी ही इन उम्मीदों से मोहभंग होने लगा। इस मोहभंग की झलक स्वतंत्रता के आरम्भिक वर्षों में ही दिनकर की कविताओं में दिखने लग जाती है। जनता के प्रतिनिधि खुद शासक वर्ग का हिस्सा बन गए और जनता का कल्याण करने के बदले येन-केन-प्रकारेण अपनी जेबें भरने के अवसर तलाशने लगे। उच्च आदर्शों को बेचने के लिए तत्पर इन नेताओं को देखकर खिन्नतापूर्वक दिनकर ने लिखा।

अथवा मुठ्ठी भर उन नोटों के बंडल में
हो रहे देखकर जिन्हें चांद-सूरज अधीर ?
टोपी कहती है, मैं थैली बन सकती हूं।
कुरता कहता है, मुझे बोरिया ही कर लो।
ईमान बचाकर कहता है, आंखें सबकी,
बिकने को हूं तैयार, खुशी हो जो दे दो।[21]

दिनकर किसान परिवार से थे और किसानों की दुर्दशा उन्होंने खुद देखी-भोगी थी। उनकी कविताओं में निर्धनता के उदाहरण अक्सर किसान परिवारों से लिए गए हैं। आजादी से दिनकर को यह उम्मीद तो थी ही कि देश का पेट भरने वाले किसानों की जिंदगी में बदलाव आएगा। हल चलाने वाले को जमीन मिलेगी और उपज का पूरा दाम मिलेगा। आजादी के बाद

जमींदारी प्रथा खत्म कर दी गई, लेकिन हैरानी की बात यह थी कि किसानों की जिंदगी में खुशहाली नहीं आई। औपनिवेशिक शासन द्वारा ली जा रही मालगुजारी और उसके एजेंट जमींदार द्वारा किया जा रहा शोषण और लिया जा रहा लगान जब खत्म हो गया तो फिर किसान बदहाल क्यों रहा? वजह ये थी कि जमींदारी उन्मूलन कागजी ही अधिक रहा उसे सख्ती से लागू नहीं किया गया। जमींदारों ने अपने परिवारजनों, रिश्तेदारों आदि के नाम पर बेनामी जमीनें लिखवा लीं। बहुत सारे मामलों में जमीनों पर किसानों के नाम उनकी जानकारी के बगैर दर्ज हो गए लेकिन असल में वे जमींदार की रियाया ही बने रहे। ''1950-51 और 1956-57 में किये गए दो अध्ययन बता रहे थे कि भूमि के पुनर्वितरण के कारण खेतिहर मजदूरों की संख्या घट तो गई थी, पर उनकी जीवनदशाओं में सुधार नहीं आया था।''[22] जमींदारी उन्मूलन और बंटाईदारी सुधारों के बाद भी सरकारी ''विकास कार्यक्रमों के आर्थिक लाभों का वितरण और संसाधनों पर नियंत्रण की स्थिति काफी विषमतापूर्ण थी। वजह यह थी कि भूमि सुधार पूरी तरह लागू नहीं किए गए थे, क्योंकि कांग्रेस बड़े भूस्वामियों का चुनावी समर्थन नहीं खोना चाहती थी।''[23]

कांग्रेस का समाजवाद व्यवहार में 'वेलफेयर स्टेट' का पयार्य बन गया, लेकिन सामंती मानसिकता, जातिवाद और भ्रष्टाचार जैसे संस्कारों ने जनकल्याण की नीतियों को ठीक से लागू भी नहीं होने दिया। योजनाएं बनती रहीं, कागजी कार्रवाईहोती रही, लेकिन जमीनी हकीकत में कोई बुनियादी बदलाव नहीं आया। ऐसे में जब गांधीजी के आध्यात्मिक शिष्य विनोबा भावे ने भूदान आन्दोलन शुरू किया तो दिनकर के मन में नए सिरे से उत्साह पैदा हुआ। तेलंगाना आन्दोलन के दौरान एक हरिजन बस्ती से आरम्भ हुए इस आन्दोलन को विनोबा भावे ने यज्ञ कहा था, जिसमें बड़े-बड़े भूस्वामियों से भूदान के रूप में आहुतियॉ देने के लिए उनका आह्वान किया। यह आन्दोलन सचमुच सामाजिक वैषम्य को मिटाने की दिशा में बहुत ही महत्वपूर्ण था, विनोबा भावे से प्रभावित होकर उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, तमिलनाडु, केरल के बहुत से भू-पतियों ने भूमिहीनों के लिए भूदान किया। दिनकर ने महसूस किया कि अमीरों-गरीबों के बीच मौजूद विराट खाई को पाटने का यह एक सुनहरा मौका है। अगर बड़े भूस्वामियों ने स्वेच्छा से इस खाई को पाटने में दिलचस्पी नहीं दिखाई तो अंततः देश में मौजूद भूमिहीनों की विराट सेना के पास क्रांति के सिवा और कोई और उपाय नहीं

बचेगा। 'जमीन दो जमीन दो' 'कांटो का गीत' और 'भूदान' सरीखी तमाम कविताओं में उन्होंने भूस्वामियों से अपीलें करते हुए उन्हें चेतावनी दी

अपने को ही नहीं देख, टुक ध्यान इधर भी देना
भूमि-हीन कृषकों की कितनी बड़ी खड़ी है सेना
बांध तोड़ जिस रोज फौज खुलकर हल्ला बोलेगी
तुम दोगे क्या चीज ? वही जो चाहेगी सो लेगी
कृष्ण दूत बनकर आया है, सन्धि करो सम्राट
मच जाएगा प्रलय, कहीं वामन हो पड़ा विराट।[24]

यह भी एक विडम्बना है कि कांग्रेस को जमींदारों और पूंजीपतियों का बड़ा समर्थन हासिल था, लेकिन कांग्रेस के सुधार कार्यक्रमों को सफल बनाने में उन्होंने योगदान तो नहीं किया, उलटे बाधाएं ही पहुंचाईं। उनके समर्थन को बचाए रखने के भय से कांग्रेस ने कभी सख्ती से अपने सुधारों को लागू नहीं किया। आजादी के बाद के वर्षों में गांधी और कांग्रेस के प्रति जमींदारों-पूंजीपतियों की भक्ति किसी वास्तविक श्रद्धा का परिणाम नहीं थी, वे अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिए यह भक्ति प्रदर्शित कर रहे थे। दिनकर ने उन्हें आगाह किया कि मार्क्सवाद का प्रभाव बढ़ता जा रहा है और जो लोग क्रांति से भयभीत होकर गांधी का सहारा ढूंढ़ रहे हैं, उन्हें सचेत हो जाना चाहिए। अगर वे स्वयं आगे बढ़कर राष्ट्र के लिए दान देंगे तो यशस्वी बनेंगे वरना गांधी का नाम लेने भर से वे अपने आपको बचा नहीं पाएंगे

उसी तरह ये नोट तुम्हारे/ पापी! उड़ जाने वाले हैं;
तप भी मारा गया, माल भी/ और लोग पाने वाले हैं।
कहो, मार्क्स से डरे हुओं का/ गांधी चौकीदार नहीं है;
सर्वोदय का दूत किसी/ संचय का पहरेदार नहीं है।[25]

भूदान के लिए की गई अपीलों का कुछ सहृदय भूस्वामियों पर तो प्रभाव पड़ा, लेकिन जिन लोगों ने जमींदारी उन्मूलन के बावजूद अपनी जमीनें नहीं छोड़ीं उनपर इन अपीलों का क्या प्रभाव पड़ता। आगे चलकर भूदान आन्दोलन ठंडा पड़ गया। वास्तविक पुनर्वितरण की प्रक्रिया 1969 में शुरू हुई और तब इसका लाभ जिन्हें मिलना चाहिए था, उन्हें पूरी तरह नहीं मिल सका। कारण कई रहे, भूदान करने वाले भूस्वामियों के परिजनों का दान की जमीन

को न छोड़ना, दान की जमीन का प्रभावशाली लोगो के पास चले जाना या वितरण के दोषपूर्ण तरीके को अपनाना।

दिनकर को लगता था कि स्वराज्य के बाद जो भी जनप्रतिनिधि आएंगे जनता के दुःखों के प्रति अपना दायित्व समझेंगे और इस तरह मिल-जुल कर देश का विकास होगा। दिल्ली के नए देवताओं को देखकर वह हैरान हैं कि सभी स्वराज्य पाने के बाद निजी सुख-सुविधाओं में इतने व्यस्त हो गए कि देश की जनता जो गांवों में बसती है, अन्न उपजाती है और देश के विकास को गति देती है उसकी जरूरतों को समझने तक से मुंह मोड़ लिया गया है। उन्हें देखकर आश्चर्य है कि 'दिल्ली वाले गा रहे बैठ निश्चिंत, मगन/ रेशमी महल में गीत खुरदुरी खादी के/ वेतनभोगिनी, विलासमयी यह देवपुरी, ऊंघती कल्पनाओं से जिसका नाता है/ जिसको इतनी चिंता का भी अवकाश नहीं/ खाते हैं जो वह अन्न कौन उपजाता है।'[26] कवि ने अनुभव किया कि पूंजीवादी मानसिकता का प्रभाव देश के जनप्रतिनिधियों पर पड़ रहा है चाहे वह वेतनभोगी ही हो, विलासिता उसके जीवन का हिस्सा बन चुकी है। दिल्ली अब खुद स्वर्ग का दूसरा पर्याय बन चुकी है, उसे कोई फर्क नहीं पड़ता कि देश में क्या हो रहा है जबकि असल में भारत वैसा नहीं है, जैसाकि दिल्ली के दर्पण में दिखलाई पड़ता है। अब भी सच्चाई यही है 'प्यासी हरियाली सूख रही है खेतों में/ निर्धन का धन पी रहे लोभ के प्रेत छिपे।'[27] दिनकर को लगता है कि जनता के मन में पल रहा आक्रोश किसी दिन विस्फोट बनकर फूट पड़ेगा। ध्यान देने की बात यह है कि स्वतंत्र भारत में दिनकर प्रलय की कामना नहीं करते, बल्कि चेतावनी देते हैं ताकि अगर देवता होश में आ जाएं तो प्रलय को टाला जा सके।

तो होश करो, दिल्ली के देवों, होश करो
सब दिन तो यह मोहिनी न चलने वाली है;
होती जाती हैं गर्म दिशाओं की सांसें,
मिट्टी फिर कोई आग उगलने वाली है ![28]

1954 तक प्रकाशित बहुत सी कविताओं में इस तरह की चेतावनी दी गई है। दुर्भाग्य यह रहा कि न तो ये चेतावनियां सुनी गईं और न ही कोई क्रांति हुई। संसदीय लोकतंत्र के तहत पांच-पांच वर्षों के अंतराल पर होने वाले चुनावों ने जनता को सही चुनाव के जरिये

परिवर्तन का इंतजार करते रहना सिखा दिया। नेताओं ने चुनावों का प्रबंधन करना सीख लिया और दिनकर की कविताओं से येचुनौतियां भी धीरे-धीरे लुप्त हो गईं। 'नील कुसुम' के बाद दिनकर का अगली महत्वपूर्ण किताब 'उर्वशी' 1961 में आई। इसमें राजतंत्र तो है, लेकिन न तो उसकी कोई आलोचना है और न ही गरीबी का कोई दृश्य।

1963 में प्रकाशित 'परशुराम की प्रतीक्षा' में एक बार पुनः दिनकर का तेजस्वी रूप दिखाई देता है। इस संग्रह की पृष्ठभूमि में चीन का आक्रमण है। राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता पुनः दीख पड़ती है और तब दिनकर को लगता है कि भागीरथ अपने अथक प्रयास से जो गंगा स्वर्ग से उतारकर लाए थे उसे इन्द्र अपने महल में कैद कर रहा है। संकेत स्पष्ट है कि गांधी ने अपनी तपस्या से देश के लिए जो आजादी हासिल की थी उसे धनपतियों ने अपनी दासी बना लिया है। वे फिर से एक बार गांधीजी के ट्रस्टीशिप (न्यास) सिद्धांत को याद करते हैं 'समर शेष है, इस स्वराज्य को सत्य बनाना होगा/ जिसका है यह न्यास, उसे सत्वर पहुंचाना होगा।'[29] वे धनपतियों को पुचकारते भी हैं और चेतावनी भी देते हैं। पर्याप्त सम्मान के साथ दिनकर लिखते हैं

पूछो कुबेर से कब सुवर्ण वे देंगे? / यदि आज नहीं तो सुयश और कब लेंगे?
तूफान उठेगा प्रलय बाण छूटेगा / है जहां स्वर्ण, बम वहीं स्यात फूटेगा।

अगर देश ही नहीं रहा तो सम्पत्ति कहां से बचेगी। इस लम्बी कविता में दिनकर केवल पूंजीपतियों से ही नहीं, बल्कि देश के हर तबके से सहयोग करने की अपील करते हैं। लेकिन साथ ही इस कविता में एक विवादी स्वर यह भी उठता है कि जो लोग देश में शोषित हो रहे हैं, वे सहयोग क्योंकर करेंगे। दिनकर खुद महसूस करते हैं कि 'जब तक है यह वैषम्य समाज सड़ेगा/ किस तरह एक होकर यह देश लड़ेगा।' वे समानता के लिए आह्वान करते हैं कि जो विशाल वृक्ष छोटे-छोटे पौधों का विकास अवरुद्ध कर रहे हों, उनके 'शिरा-सोर' छांटने की सलाह देते हैं। दिनकर को लगता है कि यह आक्रमण भी एक सुअवसर है। समुद्र मंथन के मिथक को याद करते हुए वे दुहराते हैं जहर निकल चुका है अब अमृत की बारी है।

पर, सावधान! जा कहो उन्हें समझा कर,
सुर पुनः भाग जाएं मत सुधा चुरा कर।
जो कढ़ा अमृत, सम-अंश बांट हम लेंगे,

इस बार जहर का भाग उन्हें भी देंगे।
वैषम्य शेष यदि रहा, क्षान्ति डोलेगी,
इस रण पर चढ़कर महाक्रांति बोलेगी।

दिनकर की रचनाओं में उच्चवर्ग का चित्रण प्रायः शोषक वर्ग के रूप में ही हुआ है। आरम्भ से ही दिनकर के सामने यह स्पष्ट है कि कुछ लोगों के हाथों में सम्पत्ति का केन्द्रित हो जाना ही देश की बदहाली का कारण है। उच्चवर्ग के सदस्य चाहे वे राजे-रजवाड़े हों, जमींदार हों, पूंजीपति हों अथवा अफसर-नेता हों, ये देश के संसाधनों पर पलने वाले बोझ की तरह हैं। दिनकर की काव्ययात्रा में उतार-चढ़ाव और लहजे का परिवर्तन तो है, लेकिन आरम्भ से लेकर अंत तक जहां भी विषमता का प्रश्न दिनकर के सामने आया उन्होंने निर्द्वंद्व भाव से उसका विरोध किया और समानता का आह्वान किया। पराधीन देश में उन्होंने इस विषमता के विरुद्ध क्रांति का आह्वान किया तो वहीं स्वाधीनता के बाद हर सम्भव कोशिश की कि शान्तिपूर्ण तरीकों से समानता लाई जा सके। अगर दिनकर की अपीलों और चेतावनियों पर उच्चवर्ग के सदस्यों ने ध्यान दिया होता तो शायद विषमता इतनी विराट नहीं होती जितनी की हमारे सामने मौजूद है।

मध्यवर्ग की बदलती भूमिका

आरम्भ में ही यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि दिनकर की कविताओं में उच्चवर्ग के भोग विलास और शोषण के प्रति आक्रोश तथा निम्नवर्ग की दरिद्रता और पीड़ा के प्रति सहानुभूति भरे जैसे विस्तृत विवरण मिलते हैं, उस अनुपात में मध्यवर्ग की चर्चा बिल्कुल नहीं मिलती। दिनकर मध्यवर्ग के सदस्य जरूर थे, लेकिन वे सिर्फ मध्यवर्ग के कवि नहीं थे। एक ओर स्वाधीनता संग्राम को स्वर देने के कारण वे पूरे राष्ट्र के सरोकारों को वाणी दे रहे थे तो वहीं विषमता के विरुद्ध आक्रोश के कारण उनकी कविता मेहनतकश तबके की पीड़ाओं और संघर्ष को अभिव्यक्त करती है। मध्यवर्ग दिनकर की रचनाओं का उपजीव्य भले न हो लेकिन यह

समझना जरूरी है कि राष्ट्रनिर्माण के लिए गांधी से लेकर मार्क्स तक उपलब्ध विकल्पों को परखते हुए दिनकर ने उच्चवर्ग और निम्नवर्ग के जो दृश्य अंकित किये उनमें अंतर्निहित भावजगत सचेत विद्रोही मध्यवर्ग का ही था।

स्वतंत्रता-पूर्व दिनकर की काव्य-चेतना की पृष्ठिभूमि में सामाजिक-राष्ट्रीय-एकत्व की वैचारिकी ही केन्द्र बिन्दु रही है। संवेदना के धरातल पर कवि ने अन्य विषयों पर भी गहनता से विचार किया जो मुख्य रुप से उनके परवर्ती साहित्य में मिलते हैं। दिनकर के काव्य में जहां श्रमिक वर्ग के प्रति सहानुभूति और उसे अपने अधिकारों के प्रति जागरुक कर राष्ट्र-निर्माण की इकाई के रुप में प्रतिष्ठित करने की व्यग्रता है, वहीं उच्चवर्ग के प्रति आक्रोश का भाव भी स्पष्ट रुप से मुखरित हुआ है। दिनकर की राष्ट्रीयता सही अर्थों में गांधी-युग की विद्रोही राष्ट्रीयता है। गांधीजी के युग की राष्ट्रीयता की पहचान जहां उदारवादी कांग्रेसी नेतृत्व से की जाती है वहीं दिनकर जिस राष्ट्रीयता के पक्षधर हैं, वह साम्राज्यवाद के विरुद्ध खड़े उग्रवादियों की राष्ट्रीयता है।

ब्रिटिश-साम्राज्य के विरुद्ध राष्ट्रीय-आन्दोलन में जिस वर्ग ने मुख्य भूमिका निभाई थी वह मध्यवर्ग ही था। देश के तत्कालीन प्रमुख राजनीतिक दल के रुप में उभरने वाली कांग्रेस पार्टी के महत्वपूर्ण नेता इसी मध्यवर्ग से आए थे। आरंभ से कांग्रेस का नेतृत्व उच्च-मध्यवर्गीय रहा और जब उसमें नरमपंथियों-गरमपंथियों के वैचारिक टकरावों को लेकर विघटन हुआ तब भी उसके सदस्यों की अधिकांश संख्या मध्यवर्गीय ही थी। नरमपंथी नेताओं में से कई ऐसे थे जिन्हें ब्रिटिश शासन की छाया में फलने-फूलने का अवसर प्राप्त था और वे राजनीति के क्षेत्र में उन्हीं उच्च-मध्यवर्गीय लोगों के हितों का प्रतिनिधित्व करते थे। नरमपंथी नेता सक्रिय आंदोलन के माध्यम से होने वाले परिवर्तन के बदले अपने हितों की बलि नहीं चढ़ाना चाहते थे। गरमपंथी नेताओं का जनाधार सामान्यतया निम्न-मध्यवर्ग में भी था, जिनके लिए 'परिवर्तन' का होना महत्वपूर्ण था। नगरीय और कस्बाई क्षेत्रों का यह मध्यवर्ग सामान्यतया शिक्षित होने के कारण अपने अधिकारों और हितों को लेकर सचेत था। अपनी मुक्ति को वह राष्ट्र-मुक्ति से जोड़ कर ही देख रहा था। मध्यवर्ग की राष्ट्रीय आंदोलनों में महत्वपूर्ण भूमिका रही चाहे वह अगुवाई के रुप में हो या फिर आंदोलनकारी भीड़ की अगली कतारों के रुप में जिसने अपनी सामूहिक शक्ति से ब्रिटिश-साम्राज्यवाद को आतंकित कर दिया।

मध्यवर्ग जो कि शिक्षित होने के बाद भी साम्राज्यवादी कुचक्र का शिकार था, किसी न किसी प्रकार राष्ट्रीय-आंदोलनों से जुड़ रहा था। मध्यवर्ग का बुद्धिजीवी समुदाय ही देश की जनता के भीतर राष्ट्रीय एकत्व की भावना का वाहक बनकर सामने आया। दिनकर स्वयं निम्न-मध्यवर्ग से आए बौद्धिक थे। सावित्री सिन्हा ने कहा है कि ''दिनकर उसी मध्यवर्ग के एक संवेदनशील युवक थे, जो जवाहर, सुभाष, जयप्रकाश और नरेन्द्रदेव के साथ था, जो बिना स्वराज्य प्राप्ति के एक क्षण भी चुप नहीं बैठना चाहता था।''[30] शिक्षित युवाओं के भीतर विदेशी सत्ता के प्रति जो आक्रोश समाया हुआ था, वह उनके अन्दर भी ज्वार बनकर उमड़ रहा था। वे गांधी के आन्दोलन में हिस्सा ले चुके थे। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि 1919 से लेकर 1947 तक राष्ट्र मुक्ति आंदोलन को जितना गांधीजी के नेतृत्व ने प्रभावित किया उस सीमा तक किसी और ने नहीं किया। यह सच है कि कांग्रेस के सहयोग से 1920 में गांधीजी के नेतृत्व में जो राजनीतिक उभार आया था उसने पूरे देश की जनता में राष्ट्रीय-आंदोलन के प्रति आकर्षण के लिए एक नए वातावरण का निर्माण किया था। यही कारण है कि दिनकर जैसे युवक बिना किसी भय के गांधीजी के आंदोलन में सम्मिलित हो गए।फिर भी देश की जनता और विशेषकर युवा पीढ़ी को उग्रपंथियों तथा क्रांतिकारी युवाओं के आन्दोलन ने भरपूर आकर्षित किया। इसे नकारा नहीं जा सकता कि क्रांतिकारी आन्दोलनकारियों ने जिनके साथ युवाओं का एक विशाल समुदाय जुड़ा था स्वतंत्रता को निकट लाने में सहयोगी भूमिका ही निभाई।

निश्चत रुप से दिनकर संवेदनात्मक स्तर पर उग्रवादी दल की क्रांतिकारी प्रवृत्तियों से जुड़े हुए थे। उन परिस्थितियों के बीच दिनकर की कविता का यही स्वर मुखर था :

मैं दूर नहीं रहने आया,संघर्ष-बीच दो मुझे स्थान,
भुज भर जीवन को भेंट सकूं,मेरे मन में उत्साह एक।
बल उठे किसी दिशि वह्नि-राशि,ले-देकर मेरी चाह एक।[31]

भारत में राष्ट्र मुक्ति आंदोलन के संघर्ष में मध्यवर्ग का चरित्र जिस प्रकार उभरता दिखाई देता है वह निश्चित रुप से उपनिवेश विरोधी है। यह बात ध्यान रखने की है कि तत्कालीन भारतीय मध्य-वर्ग अपने आर्थिक, व्यवसायिक और शैक्षिक स्तर पर तो एक समान नहीं था लेकिन इस वैविध्यपूर्ण समूह के सम्मिलित स्वर में साम्राज्यवादी शोषण के विरोध ही

नहीं उसके विनाश की आकांक्षा भी निहित थी। उनका एकमात्र लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्य का अंत और स्वराज्य का निर्माण करना था। गरमपंथी नेता लोकमान्य तिलक ने तो पूरे देश को एक नारा ही दे दिया था 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'। छात्र, अध्यापक, संपादक, शिक्षित मंझोले किसान, डॉक्टर, वकील, इंजीनियर, सरकारी नौकरी करने वालों के साथ-साथ छोटे-छोटे व्यापारियों का समूह भी राष्ट्रीय आंदोलनों से जुड़कर उसे और शक्तिशाली बना रहा था। पूरे देश में अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध जनमानस में मुक्ति-आंदोलन के माध्यम से जिस राष्ट्रीय एकता की नींव डाली जा रही थी, उसके कर्ता-धर्ता मुख्य रुप से मध्यवर्गीय युवक और नेता ही थे।

उल्लेखनीय तथ्य है कि कांग्रेस में अभिजात वर्गीय नेतृत्व और उसकी राजनीति से देश की जनता और युवा पीढ़ी को निराशा हुई थी जिसके कारण वह उन नेताओं की ओर आकृष्ट हुई जो साम्राज्यवाद के विरुद्ध उग्र नीतियों के वाहक थे। अभिजात वर्गीय नेतृत्व में होने वाले समारोहों में जनसामान्य की भूमिका नगण्य होती और सामान्यतया वहां उनके हितों की उपेक्षा ही होती थी। युवाओं में लोकप्रिय नेहरु ने अपनी आत्मकथा में बांकीपुर कांग्रेस अधिवेशन (1912) की चर्चा करते हुए लिखा है कि ''वह तो काफी कुछ अंग्रेजी जानने वाले उच्चवर्गीय लोगों के कार्यक्रम जैसा था जिसमें सुबह के समय पहने जाने वाले कोटों और बढ़िया इस्त्री किए हुए पतलूनों की भरमार थी। हर हालत में यह किसी भी तरह के राजनीतिक तनाव या उत्तेजना से रहित सामाजिक जमावड़ा ही था।''[32] नेहरु के कथ्य के प्रकाश में हम सहज अनुमान लगा सकते हैं कि अभिजात वर्ग का नेतृत्व किसका पक्षपोषण कर रहा था और उसकी राजनैतिक गति किस दिशा में थी।

नेहरु और सुभाष जैसे युवा नेता कांग्रेस की उदारवादी, दक्षिणपंथी नीतियों के विरुद्ध थे, जिसका उनके नेतृत्व में आने वाले युवकों पर गहरा प्रभाव पड़ा। सुभाषचंद्र बोस ने जब 1927 में 'नवयुवक समाज' के माध्यम से युवकों को संगठित करना आरंभ किया तो बिहार और बंगाल के नवयुवकों की भीड़ उमड़ पड़ी। क्रांतिकारियों की फौज में आने वाली यह भीड़ निश्चित रुप से मध्यवर्ग के युवाओं की थी।

दिनकर के आस-पास का वातारण राष्ट्रीय आंदोलन की आग में तप रहा था जिसकी तपन उनके व्यक्तित्व का हिस्सा बन गई थी। साम्राज्यवादी शोषण के विरुद्ध युवाओं का सहज

आक्रोश उनमें भी दहक रहा था। राष्ट्रीय आंदोलन के मंच पर देश के नेता गांधीजी अवश्य थे लेकिन युवाओं को उग्र विचारधारा के प्रतिनिधि ही ज्यादा आकर्षित कर रहे थे। दिनकर का भी भावनात्मक लगाव राजनीति के उग्रदल और उसकी नीतियों के साथ ही था। भगतसिंह, बटुकेश्वरदत्त, राजगुरु, सुखदेव, यतीन्द्रनाथ जैसे साहसी और आत्मोत्सर्ग करने वाले क्रांतिकारी युवा उन्हें भी प्रेरित करते थे।

सावित्री सिन्हा ने अपनी पुस्तक 'युगचारण दिनकर' में लिखा है कि ''दिनकर का युवाकाल भारतीय इतिहास का वह युग था जब भारत की राष्ट्रीयता और देशभक्ति ब्रिटिश-साम्राज्यवाद से लोहा ले रही थी। मध्यवर्ग में शासन-सत्ता के प्रति घोर अविश्वास था और वे विदेशी राज्य के शिकंजों से मुक्ति पाने के लिए हर प्रकार का बलिदान करने के लिए सन्नद्ध थे।''[33] स्वयं संवेदनशील कवि व्यक्तित्व वाले दिनकर का सम्बन्ध इसी मध्यवर्ग से था। दिनकर ने अपने युग के नवयुवकों के चरित्र को उद्घाटित करते हुए लिखा :

कलेजा मौत ने जब-जब टटोला इम्तिहां में,
जमाने को तरुण की टोलियां ललकार बोलीं।[34]

दिनकर की कविता में राष्ट्रीय आंदोलन और उसके सहभागियों की अनेक छवियां देखने को मिल जाएगी। जहां तक मध्यवर्गीय चरित्रों के उल्लेख का विषय है तो उनकी कविता में स्वतंत्रता से पूर्व मध्यवर्ग स्वतंत्रता-संघर्ष में रत ही दिखाई देता है। उनकी कविता में वह देश की जनता के दुलारे शहीद भगतसिंह और जतिनदास या फिर मध्यवर्ग के प्रतिनिधियों नेहरु, सुभाष, जयप्रकाश जैसे युवा नेताओं के

भारतीय पूंजीपति वर्ग और उच्चवर्ग अपने निजी हितों को साधने के लिए ब्रिटिश-शासन को किसी न किसी प्रकार से सहयोग ही पहुंचा रहा था। उसे किसी ऐसे परिवर्तन की आकांक्षा नहीं थी जिससे शासन-सत्ता से मिलने वाली सुविधाएं समाप्त हो जाएं और आने वाली नई व्यवस्था में उसके हाथ खाली रहें। मध्यवर्ग शिक्षित और जागरुक होने के कारण ब्रिटिश व्यवस्था और उसके हथकंडों से भली प्रकार परिचित हो चुका था। उसने साम्राज्यवादी व्यवस्था और शोषण की नीतियों के विरुद्ध स्वराज्य की स्थापना का मन बना लिया था। नेहरु, जयप्रकाश, नरेन्द्रदेव जैसे युवा नेतृत्व में समाजवादी व्यवस्था की परिकल्पना

निश्चित ही उन्हें एक सुनहले भविष्य की झलकियां दिखा रही थीं। किसान और मजदूर वर्ग के आन्दोलनों की सफलताओं ने इस विश्वास को दृढ़ किया कि साम्राज्यवाद का विनाश कर वे साम्यवाद की स्थापना करने में सफल होंगे। तत्कालीन राजनैतिक उथल-पुथल के वातावरण का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव साहित्य पर पड़ ही रहा था। देश का युवा वर्ग चाहे वह छात्र, बेरोजगार, व्यवसायी या साहित्यकार रहा वह बदलते परिवेश में पूरी तरह उसके प्रभाव में था। सदी के दूसरे और तीसरे दशक में जो कि गांधीजी के असहयोग आन्दोलन का समय रहा, उसमें देश की सम्पूर्ण जनता आन्दोलित हुई। 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में तो आम जनता के बीच यह राजनीतिक उभार अपने चरम पर देखने को मिलता है। 1935 से लेकर 1945 के मध्यकाल में दिनकर की कविताओं में उग्र राष्ट्रीयता का स्वर ही मुखर हुआ है :

घर-घर देखा धुआं धरा पर, सुना, विश्व में आग लगी है,
जल-ही-जल जन-जन रटता है कण्ठ-कण्ठ में प्यास जगी है।[35]

राष्ट्रीय आंदोलन में मध्यवर्ग और देश की आम जनता की महत्वपूर्ण भूमिका होने के बाद भी आन्दोलन का नेतृत्व उच्चवर्ग या अभिजात वर्ग कहे जाने वाले सदस्यों के हाथ में ही रहा। यही कारण है कि नेहरु, सुभाष के साथ कांग्रेस के उच्चवर्गीय नेताओ के बीच जिन्हें प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रुप से गांधीजी की सहानुभूति प्राप्त थी, हमेशा टकराव जैसी स्थितियां बनती रहीं।

दिनकर की कविताएं उनकी राष्ट्रीय भावनाओं का आख्यान हैं, देश की जनता को उन्होने ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध आन्दोलित करने के लिए कभी अतीत-गौरव का सहारा लिया तो कभी वर्तमान की विषमताओं और साम्राज्यवादी शोषण के सजीव चित्र खींचे। जनता जिस पीड़ा से व्याकुल थी उसकी उसी अनुभूति को उन्होने स्वर दे दिया। राष्ट्रीय आंदोलन में साम्राज्यवादी शोषण के विनाश के लिए जनता की अगुवाई करने वाले नेतृत्व और युगीन विचारधारा को अपनी लेखनी समर्पित किया। क्रांति के संवाहक ये सभी नवयुवक बुद्धिजीवी थे जो जनता के बीच जाकर जागरुकता के अभियान में अपना सर्वस्व न्यौछावर कर रहे थे। कांग्रेस के भीतर के क्रांतिकारी युवकों का दल जहां समाजवादी सिद्धांतो का पक्षधर था वहीं कांग्रेस की सीमा से बाहर के क्रांतिकारी युवक सशस्त्र क्रांति के माध्यम से साम्यवाद की

स्थापना करना चाहते थे। वे क्रांतिकारी युवक जो किसी भी समय देश-हित में अपनी बलि तक देने को तैयार थे, उन युवकों के साहस और समर्पण को कवि की वाणी ने नमन किया :

कलम, आज उनकी जय बोल !
जला अस्थियां बारी-बारी
छिटकायी जिनने चिनगारी,
जो चढ़ गए पुण्य-वेदी पर लिए बिना गर्दन का मोल।
कलम, आज उनकी जय बोल ![36]

इसी प्रकार फूलों के पूर्वजन्म में उन्होने क्रांतिकारियों को याद करते हुए लिखा :

अपने बलिदानों से जग में जिनने ज्योति जगायी है,
उन पगलों के शोणित की लाली गुलाब में छायी है।[37]

साहित्य का वास्तविक संबोध्य मध्यवर्ग ही होता है क्योंकि पाठक समुदाय का अधिकांश मध्यवर्गीय ही होता है, इस लिहाज से दिनकर की कविता भी मध्यवर्गीय पाठकों का ध्यान देश की दशा और दिशा पर केन्द्रित करने का प्रयास करती है। दिनकर की कुछ कविताएं सचेत रूप से मध्यवर्गीय नवरूपों को संबोधित हैं। वीरों, सिपाहियों और तरुणों का आह्वान करने वाली कविताएं इसी कोटि की हैं। इनसे प्रतीत होता है कि देश की रक्षा के लिए बलिदान देने और उसे आगे बढ़ाने के लिए कवि की उम्मीद इन्हीं जागरुक नवयुवकों पर टिकी है। 'जवानियां' शीर्षक कविता में कवि तोप के सामने खड़े हो जाने के लिए नौजवानों की प्रशंसा करता है साथ ही उनसे विकास की राह में बाधा बन चुकी अनैतिक रूढ़ियों को विनष्ट कर देने का आह्वान करता है!

उठो, उठो कुरीतियों की राह तुम भी रोक दो
बढ़ो, बढ़ो कि आग में अनीतियों को झोंक दो
परम्परा की होलिका जला रही जवानियां[38]

स्वतंत्रता के बाद प्रकाशित कविताओं में मध्यवर्ग के प्रति दिनकर की उम्मीदें धूमिल होने लगती हैं। इस बात का अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि जहां स्वतंत्रता दिवस के अवसर पर रचित कविता अरुणोदय में वे देश के नागरिकों को याद दिलाते हैं कि अभी हम

आजादी के दरवाजे पर ही पहुंचे हैं, अभी लक्ष्य संपूर्ण नहीं हुआ। आजादी को एक जिम्मेदारी भरी चुनौती बताते हुए वे पूछते हैंः

आजादी नहीं, चुनौती है, है कोई वीर जवान यहां?
हो बचा हुआ जिसमें अब तक मर मिटने का अरमान यहां?
आजादी नहीं, चुनौती है, यह बीड़ा कौन उठाएगा?
खुल गया द्वार, पर कौन देश को मंदिर तक पहुंचाएगा?[39]

वहीं आजादी की 'पहली वर्षगांठ' पर वे पाते हैं कि पूरे देश में भ्रष्टाचार की आंधी आई हुई है और उसमें शामिल होने के लिए सबमें होड़ मची हुई है

सौदा करने को चले देख सब एक लग्न।
बहती गंगा में पद पखारने की खातिर
देखो, तट पर कैसों-कैसों की जुटी भीड़?
आजादी आई नहीं, विकट कुहराम मचा,
है मची हुई अच्छों-अच्छों में मार-पीट।
कहते हैं, जो थे साधु-सरीखे पाक-साफ
डुबकियां लगा वे भी वे अब पानी पीते हैं।[40]

आजादी के साथ जैसे-जैसे समय बीतता गया मध्यवर्ग के अंदर परिवर्तन की आग बुझती गई। किसी तरह से पद हासिल कर व्यवस्था का अंग बनना और फिर किसी भी विधि से समृद्ध हासिल करना ही उसके लिए सबसे बड़ी तपस्या बन गई। बाहर से सुसंस्कृत लेकिन अंदर से भ्रष्टाचार और व्यक्तिवाद में डूबे मध्यवर्ग ने देश को खोखला बना दिया। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में ऐसे हुक्मरानों की आलोचना की गई है जो लोगों के सामने तो देवता की तरह दिखते हैं, लेकिन गलत कामों में लिप्त हैं। दिनकर देखते हैं कि मध्यवर्ग से आने वाले नेता से लेकर कलाकार तक सभी व्यवस्था का हिस्सा बनकर संतुष्ट हो गए हैं और शांतिवाद का राग अलाप रहे हैं। वे कहते हैं कि यही वे लोग हैं जिनके पाप का दंड देश भोग रहा हैः

नेता निमग्न दिन-रात शांति चिंतन में/ कवि-कलाकार ऊपर उड़ रहे गगन में।
यज्ञाग्नि हिन्द में समिध नहीं पाती है/ पौरुष की ज्वाला रोज बुझी जाती है।
ओ बदनसीब अंधों! कमजोर अभागों/ अब भी तो खोलो नयन नींद से जागो।
वह अघी, बाहुबल का जो अपलापी है/ जिसकी ज्वाला बुझ गई, वही पापी है।[41]

दिनकर की कविता में स्वतंत्रता से पूर्व मध्यवर्ग की भूमिका संघर्षशील तथा सराहनीय दिखाई देती है, वहीं स्वतंत्रता के पश्चात उसकी भूमिका संशयात्मक हो गई है। वह सत्ता-शासन, सरकारी नौकरियों में पहुंचकर जन-विरोधी गतिविधियों में लिप्त दिखाई देने लगता है। उसके भीतर संघर्षशीलता का गुण लुप्त होने लगता है और वह समझौतापरस्त होता दिखता है।

किसान, मजदूर और निम्नवर्ग

रोटी और वसन, ये जीवन के सोपान प्रथम हैं,
नवयुग के चिन्तकों ! तुम्हे इसमें भी कोई भ्रम है?[42]

दिनकर के साहित्य का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होने अपने देश, समाज और संस्कृति का गहन अध्ययन किया साथ ही समकालीन परिस्थितियों का आकलन करते हुए आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक सिद्धांतों पर भी विचार किया। हमारे देश की तत्कालीन समस्याएं और परिस्थितियां अन्य देशों की अपेक्षा कई स्तरों पर भिन्न थीं इसलिए आवश्यक था कि यहां ऐसी नीति पर अमल किया जाए जो सर्वथा उचित हो। साम्राज्यवाद से पहले जनता सामंतवाद, अध्यात्मवाद और जातिगत शोषण इत्यादि कठिनाइयों का सामना समय-समय पर करती रही है। ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के पश्चात भारतीयो ने शोषण की नई पद्धति को देखा। भारतीयों के भीतर सहिष्णुता के चरित्र ने अन्य देशों की अपेक्षा शोषण के प्रति उसके संघर्ष को जटिल बना दिया था। दिनकर की कविता में इस साम्राज्यवादी शोषण के विरुद्ध विद्रोह के स्वर के साथ ही विषमतापूर्ण व्यवस्था के उन्मूलन की प्रतिबद्धता भी है। उनकी कविता श्रमिक-वर्ग के अधिकार और उसके विद्रोह की सशक्त अभिव्यक्ति है।

भारत परम्परागत रूप से कृषि और प्रकृति-प्रदत्त संसाधनो पर निर्भर था, कृषि उसकी जीविका का मुख्य साधन रही। उसके घरेलू-उद्योग-धंधे भी चाक-चरखा, हथकरघा, चक्की

वाली तकनीक की कोटि के ही रहे, जिस पर उसका निजी नियंत्रण था। यातायात के साधन भी ऐसे ही थे, बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी अथवा इक्का। फिर भी कृषि-प्रधान होते हुए इस देश के साधन-सम्पन्न होने में कदाचित किसी प्रकार का कोई संदेह नहीं किया जा सकता है। भारत के पास अपने निजी उद्योग-धंधे थे, जिनके उत्पादों का प्रयोग देशीय-अंतर्देशीय व्यापारो में पर्याप्त होता था। लोहे और इस्पात के उत्पादन के क्षेत्र में इसकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक थी।

मधु लिमये ने लिखा है कि

> ब्रिटिश कपड़ा उद्योग भारतीय कपड़े के आयात से इतना भयभीत था कि 1696 ईस्वी में हाउस आफ कामंस में भारतीय कपड़े पर रोक लगाने के लिए एक विधेयक लाया गया। भारतीय कपड़ा वहॉं इतना लोकप्रिय था कि एक समकालीन लोकगीत में भारतीय कपड़ा पहने महिलाओं के लिए कहा गया कि इन कपड़ों के लिए महिलाएं पागल हैं और वे प्रफुल्ल मोरों की तरह गलियों में बड़े गर्व से इनका प्रदर्शन करती फिरती हैं।[43]

ब्रिटिश उपनिवेश होने के पश्चात भारत में यांत्रिक औद्योगीकरण के प्रवेश ने सबसे पहले निजी उद्योग धंधों का विनाश किया।

कंपनी ने उद्योग-धंधों के साथ-साथ कृषि योग्य भूमि का दोहन करने की प्रक्रिया अपनाई। पारम्परिक पद्धति में राजा और किसान के बीच भूमि-सम्बन्धी कुछ संतुलनकारी नीतियां थीं अर्थात इस पद्धति में लचीलापन था। राजा के अधीन भूमि पर ग्रामीण किसान संयुक्त रुप से खेती करते थे और पैदावार का निश्चित हिस्सा स्थानीय प्रशासक के माध्यम से कर के रुप में दे दिया जाता था। यह 'कर' पैदावार के कम या अधिक होने पर घटता-बढ़ता भी था। शासक बनने के साथ ही कंपनी ने कृषि को मुफ्त मिले चारागाह के रूप में देखा। औपनिवेशिक सरकार ने कृषि भूमि के साथ कुछ नए प्रयोग कर पुरानी पद्धति में आमूल परिवर्तन कर दिए। भूमि को निजी संपत्ति के रूप में देखने की आदत के चलते उन्हें यहां के भूमि संबंध समझ में नहीं आए। लगान एकत्र करने वाले जमींदार को उन्होने भूमि का मालिक समझा। अधिक से अधिक कर एकत्र करने के लिए पहले उन्होंने जमींदारों से अनुबंध किए तथा लालच और बढ़ने पर उन्होंने जमींदारी अधिकारों को नीलाम करना शुरू किया। इससे रैयत का खयाल रखने वाले परम्परागत जमींदार तबाह हो गए और मुनाफे के लिए जमींदारी खरीदने और निर्ममता से लगान वसूलने वाला एक नया मुनाफाखोर जमींदार अस्तित्व में

आया। अब लगान की वसूली का सम्बन्ध भूमि मात्र से था न कि पैदावार से। लगान कठोरता के साथ वसूला जाता, पैदावार कैसी हुई इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता था। लगान का भुगतान न करने वालों से भूमि को छीन लिया जाता। इस पद्धति का परिणाम यह हुआ कि किसान भूमिहीन होने लगे, छोटे किसान ऋणी हो गए। इस तरह खेतिहर मजदूरों की बहुत बड़ी संख्या खेतों में श्रमिक बनकर काम करने लगी। निम्नजातियों के कृषक ऋण के चलते बंधुआ मजदूर तक बन गए।

दिनकर की काव्य-यात्रा ब्रिटिश साम्राज्यवाद के चतुर्दिक अत्याचार के विरुद्ध आन्दोलन और आक्रोश के वातावरण में आरम्भ हुई थी। स्वयं किसान परिवार में जन्मे दिनकर का परिवेश किसान जीवन के संघर्ष को देखते-भोगते हुए गुजरा था इसलिए उनकी कविता में युगीन समस्याओं की विकरालता और भारतीय जनता में व्याप्त विकलता दिखाई देती है। दिनकर की राष्ट्रीय कविताओं में जहां साम्राज्यवाद के प्रति विद्रोह का स्वर सुनाई देता है और उसके विकास में सहयोगी सामन्तों, पूंजीपति वर्ग के प्रति घृणा दिखाई देती है वहीं श्रमिक-वर्ग के प्रति सम्मान और करुणा की भावना प्रस्फुटित हुई है। दिनकर के इन शब्द-चित्रों मे कहीं शोषण के प्रति आक्रोश है तो कहीं शोषणजनित अभावों की मर्मस्पर्शी वेदना।

दिनकर ने छायावाद के दौर में कविता लिखना शुरू किया था। छायावाद कविता सुसंस्कृत सौंदर्यबोध की कविता थी। गांव, गंदगी, गरीबी और अभाव इत्यादि उसके लिए लगभग वर्जित से विषय थे। अगर कभी देश की पीड़ा कविता में आती भी थी तो प्रतीकात्मक बनकर। ऐसे में दिनकर को कविता ने कृत्रिमता से दूर वास्तविक जगत पर आने के लिए विवश किया। 'कविता की पुकार' ऐसी ही एक कविता है जो कवि से प्रार्थना करती है कि वह उसे श्रम करने वाले उन दीन-दुखियों तक जाने दे और वह सब कुछ उसे भी भोगने दे जो श्रमजीवी भोगता है। आषाढ़ के मौसम में किसान अपने खेतों की हरियाली देखकर हर्षाता है, फसल के तैयार होने पर आत्मसंतुष्ट होता है कि उसका श्रम निरर्थक नहीं हुआ और अपने समूह के साथ उत्सव मनाता है। सब कुछ के बाद खेत की तैयार फसल उसके खलिहान तक नहीं पहुच पाती, जहां वह उत्सव के बाद आंसू बहाता है :

कवि ! अषाढ़ की इस रिमझिम में धनखेतों में जाने दो,
कृषक-सुन्दरी के स्वर में अटपटे गीत कुछ गाने दो।

दुखियों के केवल उत्सव में इस दम पर्व मनाने दो,
रोउंगी खलिहानों में, खेतों में तो हर्षाने दो।[44]

दिनकर का पहला काव्य-संग्रह 'विजय-संदेश' किसानों पर थोपे गए अनुचित लगान के विरुद्ध गुजरात के बारदोली जिले में हुए सत्याग्रह और उसकी जीत पर लिखा गया। इस सत्याग्रह-आंदोलन में किसानो की कई मांगे मानी गई थीं। पूरे देश में साम्राज्यवाद के विरुद्ध हो रहे विभिन्न आंदोलनों के बीच ऐसी सफलताएँ महत्वपूर्ण थीं क्योंकि संघर्षो को जीवित रखने के लिए आत्मविश्वास और ऊर्जा की आवश्यकता होती है। 'विजय-संदेश' कुल सत्रह पृष्ठों की पुस्तिका मात्र न होकर उसी उर्जा का प्रकीर्णन है। जब इसका प्रकाशन हुआ तो देश के आंदोलनकारियों के लिए यह वास्तव में एक प्रेरणादायक विजय-संदेश था। साम्राज्यवाद और औपनिवेशिकता के विरुद्ध विद्रोह की भावना उनकी परवर्ती रचनाओं में और भी प्रखर हुई है। स्वतंत्रता से पूर्व और स्वतंत्रता के पश्चात की कविताओं में संघर्ष और मोह-भंग को स्पष्ट करती उनकी रचनाएं उन विसंगतियों को भी उद्घाटित करती हैं जिनके होते हुए राष्ट्र का विकास संभव नहीं।

दिनकर की कविता में न्याय का भाव यथार्थवादी धरातल पर अभिव्यक्त हुआ है। उनके अन्तःकरण में सामन्तवादी और साम्राज्यवादी शक्तियों के सर्वनाश की आकुलता तथा मानवतावाद की पक्षधरता है। अनाज से लेकर जीवन की तमाम जरूरतों के लिए जो वर्ग श्रमदान करता है उसके हिस्से को हड़पना घोर अत्याचार ही तो है। एक वर्ग श्रमदान करके उत्पादन करता है और दूसरा वर्ग उसके उत्पादन पर एकाधिकार कर उसके जीवन को संघर्षपूर्ण बना देता है। ऐसी परिस्थितियो में सामाजिक विषमता और वैमनष्य को बढ़ावा मिलता है। समाज के भीतर ऐसी स्थिति का उत्पन्न होना मानवता के प्रति एक घृणित अपराध नहीं तो और क्या है? इसीलिए कवि वर्ग-वैषम्य का उन्मूलन चाहता है। राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को अवरुद्ध करने वाले कारकों में अर्थ-वैषम्य को वह एक महत्वपूर्ण कारक के रुप में देखता है। शोषक-साम्राज्यवाद कृषकों, श्रमिकों और सर्वहारा के शोषण के लिए जिस निर्मम व्यवस्था को उन पर लादे हुए था, उसमे सामन्त, पूंजीपति, अधिकारी, साहूकार उसके सहयोगी की भूमिका में थे। समाज में जीवन के हर एक स्तर पर इस शोषक-समूह से निर्धन जनता का सामना होता ही था। इसीलिए दिनकर की राष्ट्रीय-चेतना से सम्पन्न कविताओं में जब भी

सामाजिक-जीवन को ढूंढने का प्रयास होता है तो समाज में व्याप्त शोषण जनित विद्रुपताओं के चित्र उभर कर सामने आते हैं। यही कारण है कि दिनकर की कृतियों में उच्चवर्ग और सामन्तवाद-साम्राज्यवाद के प्रति घृणा के साथ विद्रोह का स्वर सुनाई देता है।

देख, कलेजा फाड़ कृषक
दे रहे हृदय-शोणित की धारें;
बनती ही उन पर जाती हैं
वैभव की ऊंची दीवारें।[45]

देश की पराधीनता जनता के हृदय को कचोटती है, वह विद्रोह करके परतंत्रता की बेड़ियां काट डालना चाहती है। लेकिन अपनी शक्ति को व्यवस्था के सामने विवश पाती है। शोषण को सत्ता का संरक्षण प्राप्त है और उसका प्रतिकार करना अपराध घोषित कर दिया गया है। दिनकर ने रक्तपायी शोषकों के विरुद्ध उसी प्रतिशोध की ज्वाला को पहचाने हुए शोषितों की वाणी को स्वर दिया :

पिलाने को कहां से रक्त लाएं दानवों को?
नहीं क्या स्वत्व है प्रतिशोध का हम मानवों को

कवि अपने युग को बड़ी गंभीरता से देख रहा था, उसने पाया कि उत्पादन करने वाला कृषक, श्रमिक वर्ग जीवन भर कठिन परिश्रम करता है और उसके श्रम-फल को धन-पशु निगलते जा रहे हैं। साम्राज्यवादी दानव निर्बलों के श्रम का सुख भोग रहा है और देश की पूरी सम्पदा पर उसने अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया। जो हमारा अन्नदाता (कृषक) था वह आज दीन-हीन होकर आहें भर रहा है और श्रमिक अभाव में तड़प रहा रहा है और उनका खून चूसकर शोषक अपने महलों की दीवार खड़ी कर रहे हैं:

आहें उठीं दीन कृषकों की मजदूरों की तड़प पुकारें ,
अरी ! गरीबों के लोहू पर खड़ी हुई तेरी दीवारें।[46]

साम्राज्यवाद की शोषण-नीति ने जिस व्यवस्था को मेहनतकश तबके पर आरोपित किया, उसने धरती-पुत्रों को भूमिहीन बना दिया उस दुर्दशा का निरन्तर विकास होता ही जा रहा है। जिनके श्रम से खेत लहलहाते थे, वही अब खेतिहर मजदूर बन गए थे। अनाज का उत्पादन

कर सभी की भूख मिटाने वाला यह वर्ग दिन-रात पशुओं की भांति अथक परिश्रम तो करता है, लेकिन स्वयं अभाव में ही जीवन व्यतीत करता है, न ही पेट भर भोजन मिलता न तन ढंकने के लिए वस्त्र, अन्य आवश्यकताओं के बारे में तो जैसे सोचना भी दूर की बात है :

जेठ हो कि पूस, हमारे कृषकों को आराम नहीं है,
छुटे कभी संग बैलों का, ऐसा कोई याम नहीं है।
मुख में जीभ,शक्ति भुज में, जीवन में सुख का नाम नहीं है,
वसन कहां? सूखी रोटी भी मिलती दोनों शाम नहीं है।[47]

अन्यायपूर्ण नीतियों के होते हुए न तो श्रमिकों को अपने श्रम का फल मिल सकता है न ही ऐसी व्यवस्था से वह वाद-प्रतिवाद कर सकता है। किसानों-मजदूरों का तबका एक ऐसा वर्ग था जिसका शोषण औपनिवेशिक शासक और उसके सहयोगी जमींदार, साहुकार आदि हर स्तर पर करते थे। निचले स्तर पर गांव का महाजन या साहुकार मदद के नाम पर उसे ऋण देता और उसकी वापसी के समय एक शत्रु की तरह क्रूरता से वसूलता। यह स्थिति इस समुदाय के लिए किसी यातना से कम दुष्कर नहीं होती। जहां उसकी मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करना आवश्यक नहीं समझा जाता है। वह पशुओं के बीच भूखे-प्यासे, आंसू बहाते अभाव से भरा जीवन जीने के लिए जैसे अभिशप्त हैं। उसे अपने अस्तित्व की लड़ाई ही विषम परिस्थितियों में लड़नी पड़ रही है। दिनकर हैरान होते हैं कि इतने अभावों के बीच भी वे जी कैसे ले रहे हैं।

बैलों के ये बन्धु वर्ष भर, क्या जाने कैसे जीते हैं ?
बंधी जीभ, आंखें विषण्ण,गम खा शायद आंसू पीते हैं![48]

औपनिवेशिक व्यवस्था और उसके सहयोगी धनपतियों ने अपने धन-संचय के लिए जिस प्रकार मेहनतकश तबके का अमानुषिक दोहन किया, उससे उसे अमानवीय जीवन जीने के लिए विवश होना पड़ा। रोटी और कपड़े जैसी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति कर पाना भी उसके लिए दुरुह हो गया। श्रमिक चाहे खेतों में जाकर अन्न उपजाए या फिर मिल-कारखानों में श्रम करके रोटी कपड़े की व्यवस्था करे, उसका प्रयास हर स्थिति में असफल हो जाता है। उसकी निर्धनता का कारण वह स्वयं नहीं बल्कि उस पर थोपी हुई वह व्यवस्था है जो उनके मुंह की रोटी तक छीन लेती है।

हाय ! छिनी भूखों की रोटी
छिना नग्न का अर्द्ध वसन है,
मजदूरों के कौर छिने हैं,
जिन पर उनका लगा दसन है।[49]

औपनिवेशिक शासकों ने दुनिया भर को लूटने का अपना जो अभियान चलाया, उसे स्वीकार्य बनाने के लिए 'सभ्यता प्रसार' का मोहक नाम दिया। विज्ञान के रथ पर आरूढ़ इस 'सभ्यता' ने क्रूरता के सभी पुराने कीर्तिमान ध्वस्त कर दिये। मेहनतकश जनता के श्रम का आखिरी कतरा, उनके खून की आखिरी बूंद सिर्फ शानो-शौकत और विलासिता के लिए निचोड़ी जा रही थी। सभ्यता की इससे बड़ी विडम्बना और क्या हो सकती है।

चढ़ती किसी के बूट पर पॉलिश किसी के खून की,
जीवित मरालों की चिता है सभ्यता की गोद में।[50]

ब्रिटिश साम्राज्य ने भारत में जिस आधुनिकता को जन्म दिया वह उसी के उद्देश्यों की तरह कलुषित थी।

महात्मा गांधी ने हाथ के श्रम और मशीनों के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किए हैं उन सबको कोई माने, यह जरूरी नहीं है। उनकी योजना में भी बाइसिकल, चरखा और सिलाई की मशीन जैसी सरल मशीनों के लिए ही जगह थी। किन्तु उन्होने कड़ी मेहनत करने, जनता के पैसे की लूट और उसके अपव्यय से पूरी तरह बचने पर जो जार दिया है, वह हमारी भौतिक और नैतिक प्रगति के लिए जरूरी शर्त है।[51]

भारतीय उद्योगो को नष्ट कर पूंजीपतियों ने जिन उद्योगों का यहां विकास किया वे श्रमिकों और समाज दोनों के लिए ही घातक हैं। कवि ने अनुभव किया कि श्रमिको को न तो आर्थिक परितोष ही मिल पा रहा है और न ही उनकी जिंदगी ऐसे मिल-कारखानों में सुरक्षित है। वह जिस वातावरण में काम कर रहे हैं, वह उन्हें बीमार बना देता है लेकिन तब भी वे चिमनियों के धुएं में सांस लेने को विवश हैं क्योंकि उसके पास जीविका के लिए दूसरा कोई विकल्प नहीं बचा है।

श्रमियों का कर शोषण, विनाश,
चिमनियां छोड़ती मलिन सांस।

श्रमशिथिल, विकल, परिलुब्ध, व्यस्त,
क्षयमाण मनुज निरुपाय, त्रस्त।[52]

पूंजीवादी व्यवस्था का नग्न और घिनौना चरित्र उस समय अधिक भयावह हो उठा जब देश की निरीह जनता अकाल के दंश को झेल रही थी। यह अकाल प्रकृति प्रदत्त था जिसका जैसे-तैसे जनता सामना कर रही थी इसी बीच प्रथम विश्व-युद्ध छिड़ा और साम्राज्यवादी-पूंजीपतियों के साथ-साथ देशी पूंजीपतियों और जमाखोरों ने अपने लाभ के लिए मानवता के परखच्चे उड़ा दिए। हर एक सामान का मूल्य इतना अधिक बढ़ा दिया गया कि पहले से बेबसी की मारी जनता के सामने जैसे जीवन का कोई विकल्प ही न बचे। जिनके पास खेती वाली अच्छी भूमि थी उन्होने उसे बेच दिया, जो भूमिहीन थे उनके पास जो कुछ बेचने को हो सकता है, वह बेचा; जो जीने के लिए कुछ भी नहीं बेच सकते थे, महाजनों, साहूकारों के यहां अत्यधिक ब्याज की शर्तों पर कर्जदार हो गए जिससे ऋणमुक्त हो पाना उस श्रमिक-समुदाय के लिए असंभव था। औपनिवेशिक व्यवस्था का विरोध करने वाला कोई भी लेखक उस दौर में कर्ज की इस विराट समस्या की अनदेखी नहीं कर सकता था। ऋण की वसूली इतनी कठोर होती कि उससे बचना मुश्किल होता और ब्याज इतना अधिक होता कि मूल चुकाने की नौबत ही नहीं बनती। कर्जग्रस्त परिवारों की फटेहाली का आलम यहां तक होता कि कई बार महिलाओं तक के पास तन ढकने भर को कपड़े न होते। दिनकर की कविताओं में आर्थिक-विषमताओं से भरे समाज का वह वीभत्स पहलू प्रकट होता है जहां एक तरफ दूसरों की मेहनत पर पलने वालों के जानवर भी मनुष्य से अच्छा खाते-पहनते हैं और दूसरी तरफ मेहनत करने वाले लोग जानवरों से बदतर जीवन जीने के लिए विवश है :

श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
मां के हड्डी से चिपक ठिठुर, जाड़ों की रात बिताते हैं,
युवती के लज्जा-वसन बेच जब ब्याज चुकाए जाते हैं,
मालिक जब तेल-फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं
पापी महलों का अहंकार देता मुझको तब आमंत्रण।[53]

श्रमिक और उसके परिवार के सदस्य किस सीमा तक कर्ज के इस कुचक्र के शिकार होते हैं इसके विभिन्न दृश्य दिनकर की कविता में देखने को मिलतें हैं। जीवन भर उत्पादन के

लिए मेहनत करने वाले लोग अपनी ही पैदावार का स्वाद नहीं चख पाते। उसके परिवार और सन्ततियोंको भी उसके श्रम फल नसीब नहीं होता। जब तक यह अन्यायपूर्ण व्यवस्था समाज में रहेगी श्रम करने वाला सम्पूर्ण जीवन ऋण-मुक्त होने के लिए संघर्ष ही करता रहेगा :

ऋण शोधन के लिए दूध-घी बेच-बेच धन जोड़ेगे,
बूंद-बूंद बेचेंगे, अपने लिए नहीं कुछ छोड़ेंगे
शिशु मचलेंगे दूध देख,जननी उनको बहलाएगी,
मैं फाड़ूंगा हृदय, लाज से आंख नहीं रो पाएगी।[54]

दिनकर की दृष्टि में जब तक अर्थ-वैषम्य की स्थिति रहेगी तब तक सत्ताधारी व्यवस्था श्रम करने वालों का शोषण करती रहेगी। वर्ग-वैषम्य की ऐसी स्थिति समाज के लिए घातक है। कवि श्रमिकों के बच्चों को भूख से बिलालाते देखकर विचलित हो उठता है। दुर्बल माताएं जो स्वयं भूखी-प्यासी सूख रही हैं, उन्हें स्तनपान कराने में भी अक्षम हैं। ऐसी माताएं अपनी ही गोद में शिशु को मरता हुआ देखने को विवश होती हैं। अबोध शिशुओं की करुण ध्वनि सुनकर कवि के भीतर 'हाहाकार' जन्म लेता है कि स्वर्ग का सुख भोग रहे शोषकों की विलासिता उन मासूस शिशुओं को चुकानी पड़ रही है जिन्होंने अभी होश भी नहीं संभाला है

पर, शिशु का क्या हाल, सीख पाया न अभी जो आंसू पीना ?
चूस-चूस सूखा स्तन मां का सो जाता रो-विलप नगीना।
विवश देखती मां, आंचल से नन्ही जान तड़प उड़ जाती;
अपना रक्त पिला देती यदि फटती आज वज्र की छाती।
*** *** ***
बेकसूर नन्हें देवों का शाप विश्व पर पड़ा हिमालय
खिला चाहता मूल विश्व का, देख रहा क्या खड़ा हिमालय[55]

दिनकर की कविता में किसानों और श्रमजीवियों की दुर्दशा पर जो आक्रोश सर्वत्र दिखता है, उसके पीछे दिनकर का सुचिंतित मानवतावाद है। आरम्भिक कविताओं में ही दिनकर के सामने यह स्पष्ट हो गया था कि उच्चवर्ग द्वारा उनके श्रम का दोहन ही मेहनतकश लोगों की पीड़ाओं का कारण है। इसीलिए वे अक्सर इन दोनों तबकों की जीवन स्थितियों को आमने-सामने रखकर इस वीभत्स शोषण का चित्र खींचते हैं। अपने विचार-प्रधान प्रबंध-काव्य 'कुरुक्षेत्र' में दिनकर ने शोषण की उत्पत्ति और उसके समाधान के सवाल पर गहराई से

विचार किया। दिनकर जिस मानवतावाद के समर्थक हैं, उसकी मूलभूत मान्यताएं 'कुरुक्षेत्र' में विन्यस्त हैं। वे मानते हैं कि सभी मनुष्य समान हैं, इसीलिए मानवीय गरिमा के साथ जीने का हक हर इंसान का मूलभूत प्रकृति प्रदत्त हक है। भीष्म के कथन में इस दर्शन की अभिव्यक्ति बड़े स्पष्ट शब्दों में हुई है।

धर्मराज, यह भूमि किसी की नहीं क्रीत है दासी,
हैं जन्मना समान परस्पर इसके सभी निवासी।
है सबको अधिकार मृत्त का पोषक रस पीने का,
विविध अभावों से अशंक हो कर जग में जीने का।[56]

मनुष्य की इस मूलभूत समानता के पक्ष में दिनकर 'आदिम साम्यवाद' का तर्क भी उपस्थित करते हैं। आरम्भ में सभी मनुष्य समान थे, समुदाय के सभी सदस्यों में अपनत्व था, ऊंच-नीच का भेद नहीं था और न ही शोषण था। आपदाओं से बचने के लिए निजी संचय की प्रवृत्ति ने लोभ और वैयक्तिक भोगवाद को जन्म दिया जिसके दुष्परिणामों को आज सारा समाज भोग रहा है।[57] दिनकर यह भी कहते हैं कि दुनिया भर की संपदा का सृजन श्रम ने किया है इसीलिए उत्पादन पर पहला हक श्रम करने वाले का होना चाहिए। धरती पर इतनी प्राकृतिक निधियां बिखरी हुई हैं कि सारा मनुष्य समाज समान रूप से तृप्ति पा सकता है।

इतना कुछ है भरा विभव का/ कोष प्रकृति के भीतर,
निज इच्छित सुख-भोग सहज/ ही पा सकते नारी नर।
सब हो सकते तुष्ट, एक सा/ सब सुख पा सकते हैं,
चाहें तो, पल में धरती को/ स्वर्ग बना सकते हैं।[58]

'कुरुक्षेत्र' संभवतः पहली साहित्यिक कृति है जिसमें भूस्वामित्व के सवाल को भी उठाया गया है। इस कृषि प्रधान देश में भूमि उत्पादन का सबसे बड़ा जरिया है, सबसे बड़ी भौतिक पूंजी। चंद लोगों के हाथों में विराट भूसंपत्ति के संकेद्रण ने अन्य लोगों को उनका आश्रित बना दिया और इस तरह असमानता की विराट खाई पैदा हो गई। दिनकर यह याद दिलाते हैं कि हवा और पानी की तरह ही धरती भी प्रकृति प्रदत्त है, उसे किसी ने पैदा नहीं किया है अतः वह किसी की व्यक्तिगत संपत्ति भी नहीं हो सकती। उसपर सबका हक भी बराबर होना चाहिए।

बिना विघ्न जल, अनिल सुलभ है/ आज सभी को जैसे;
कहते हैं, थी सुलभ भूमि भी/ कभी सभी को वैसे।
*** *** ***
जी भर करते काम, जरूरत भर/ सब जन थे खाते,
नहीं कभी निज को औरों से/ थे विशिष्ट बतलाते।[59]

असमानता की उत्पत्ति, विकास और उसके स्थायीत्व के भौतिक कारणों की ठोस ऐतिहासिक समझ के चलते दिनकर 'कुरुक्षेत्र' में ही इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं कि समानता ही सर्वोच्च न्याय है और इसे किसी भी स्थिति में स्थापित किया जाना चाहिए। 'कुरुक्षेत्र' के प्रकाशन के कुछ ही समय बाद मिलने वाली स्वाधीनता को इसीलिए दिनकर बहुत उम्मीद के साथ देखते हैं। 'स्वराज्य' के साथ नेहरू के समाजवाद का नारा उन्हें बहुत उत्साहित करता है और उन्हें लगता है 'अमृतमंथन' से निकलने वाले अमृत में सबको अपना भाग मिलेगा।[60] स्वतंत्रता के बाद के आरम्भिक वर्षों की रचनाओं में वे पूंजीपतियों और भूस्वामियों को याद दिलाते हैं कि उनके हाथों में पड़ी विराट संपत्ति असल में दूसरों की अमानत है 'समर शेष है, इस स्वराज्य को सत्य बनाना होगा/ जिसका है यह न्याय, उसे सत्वर पहुंचाना होगा।' और जब विनोबा भावे भूदान आन्दोलन आरम्भ करते हैं तो उन्हें लगता है कि 'शान्तिपूर्ण संक्रमण' के जरिये नई क्रांति लाई जाने वाली है

सुरम्य शान्ति के लिए, जमीन दो, जमीन दो,
महान क्रांति के लिए, जमीन दो, जमीन दो,
जमीन दो कि देश का अभाव दूर हो सके,
जमीन दो कि द्वेष का प्रभाव दूर हो सके,
जमीन दो कि भूमिहीन लोग काम पा सकें,
उठा कुदाल बाजुओं का जोर आजमा सकें।
*** *** ***
जमीन दो कि शान्ति से नया समाज ला सकें,
जमीन दो कि राह विश्व को नई दिखा सकें।[61]

कोई भूमिहीन न रहे, हरेक के पास काम हो और देश में प्रेम का साम्राज्य हो - दिनकर का यह सपना पूरा नहीं हो सका। दिनकर की चेतावनियों के बाद भी लालची

भूस्वामियों ने अपनी जमीनें नहीं छोड़ीं। एक महान आकांक्षा के साथ शुरू हुए भूदान आन्दोलन को वास्तव में उतना ही मिला जितना इस देश में भीख मांगने पर मिलता है। असमानता की खाई बनी रही। 'परशुराम की प्रतीक्षा' लिखते समय दिनकर ने पुनः एक बार इस वैषम्य को महसूस किया और पाया कि जब तक वैषम्य है तब तक देश में एका कैसे हो सकता है।

निर्धनों और श्रमिकों के लिए दिनकर के मन में गहरी सहानुभूति थी, वे उनकी स्थिति में बुनियादी परिवर्तन चाहते थे जिसका साक्ष्य उनकी कविताएं खुद हैं। लेकिन एक सवाल बार-बार मन में उठता है कि जितने स्पष्ट ढंग से उन्होंने निर्धनों, किसानों और श्रमिकों की जीवन स्थितियों का उल्लेख किया है, उतनी ही स्पष्टता से उनके काव्य में शोषण के अपराधियों का उल्लेख क्यों नहीं है? क्यों वे शत्रुओं के तौर पर 'स्वर्ग', 'सुरपुर' और 'इन्द्र' का नाम लेते हैं, जबकि उनके सामने स्पष्ट है कि वह शत्रु प्रत्यक्ष मौजूद भूस्वामी और पूंजीपति है? क्या दिनकर ने केवल संस्कारवश इन मिथकों का प्रयोग किया है या यह गांधी और मार्क्स का घोल बनाने वाले उनके दृष्टिकोण की सीमा है जो शोषितों की पीड़ा पर करुणा-विगलित तो होती है, लेकिन ठोस जमीनी सच्चाई बताने से झिझककर वायवीय बातें कहने लगती है?

संदर्भ

[1] रजनी पाम दत्त, आज का भारत, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2004, पृष्ठ 126
[2] वही, पृष्ठ 250
[3] सुमित सरकार, आधुनिक भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1993, पृष्ठ 56
[4] रजनी पाम दत्त, आज का भारत, पूर्वोक्त, पृष्ठ 51
[5] वही, पृष्ठ 55
[6] रामधारी सिंह दिनकर, सामधेनी, अनुपम प्रकाशन, पटना, 2005,पृष्ठ 42
[7] रामधारी सिंह दिनकर, कुरुक्षेत्र, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 2007,पृष्ठ 87
[8] वही, पृष्ठ 117
[9] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005,पृष्ठ 28, 29
[10] वही, पृष्ठ 44
[11] रामधारी सिंह दिनकर, परशुराम की प्रतीक्षा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृष्ठ 32
[12] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, पूर्वोक्त, पृष्ठ 28
[13] रामधारी सिंह दिनकर, नीलकुसुम, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010, पृष्ठ 18
[14] रामधारी सिंह दिनकर, दिल्ली, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2003, पृष्ठ 31
[15] रामधारी सिंह दिनकर, परशुराम की प्रतीक्षा, पूर्वोक्त, पृष्ठ 71
[16] रामधारी सिंह दिनकर, नील कुसुम, पूर्वोक्त, पृष्ठ 107
[17] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, पूर्वोक्त, पृष्ठ 39
[18] रामधारी सिंह दिनकर, नील कुसुम, पूर्वोक्त, पृष्ठ 72
[19] वही, पृष्ठ 28
[20] वही, पृष्ठ 44
[21] रामधारी सिंह दिनकर, नीम के पत्ते, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1999, पृष्ठ 15
[22] रजनी कोठारी, भारत में राजनीति : कल और आज, वाणी प्रकाशन, 2005, पृष्ठ 389
[23] वही, पृष्ठ 388
[24] वही, पृष्ठ 86
[25] रामधारी सिंह दिनकर, नील कुसुम, पूर्वोक्त, पृष्ठ 80
[26] रामधारी सिंह दिनकर, दिल्ली, पूर्वोक्त, पृष्ठ 28
[27] वही, पृष्ठ 31
[28] वही, पृष्ठ 31
[29] वही, पृष्ठ 77
[30] सावित्री सिन्हा, युगचारण दिनकर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, अक्टूबर 1963, पृष्ठ 46
[31] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, पूर्वोक्त, पृष्ठ 34
[32] पवन कुमार वर्मा, भारत के मध्य वर्ग की अजीब दास्तान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999 से उद्धृत, पृष्ठ 25
[33] सावित्री सिन्हा, युगचारण दिनकर, पूर्वोक्त, पृष्ठ 46
[34] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, पूर्वोक्त, पृष्ठ 41
[35] वही, पृष्ठ 35
[36] वही,पृष्ठ 5
[37] वही,पृष्ठ 75

[38] रामधारी सिंह दिनकर, परशुराम की प्रतीक्षा, पूर्वोक्त, पृष्ठ 35
[39] रामधारी सिंह दिनकर, नीम के पत्ते, पूर्वोक्त, पृष्ठ 12
[40] वही, पृष्ठ 15
[41] रामधारी सिंह दिनकर, परशुराम की प्रतीक्षा, पूर्वोक्त, पृष्ठ 11
[42] रामधारी सिंह दिनकर, नील कुसुम, पूर्वोक्त, पृष्ठ
[43] मधुलिमये, भारतीय राजनीति के अन्तर्विरोध, सारांश प्रकाशन, 1996, पृष्ठ 37
[44] रामधारी सिंह दिनकर, रेणुका, पूर्वोक्त, पृष्ठ 23
[45] वही, पृष्ठ 38
[46] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, पूर्वोक्त, पृष्ठ 63
[47] वही, पृष्ठ 38
[48] वही, पृष्ठ 38
[49] वही, पृष्ठ 63
[50] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, पूर्वोक्त, पृष्ठ 97
[51] मधुलिमये, भारतीय राजनीति के अन्तर्विरोध, पूर्वोक्त, पृष्ठ 57
[52] रामधारी सिंह दिनकर, मृत्ति तिलक, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1987, पृष्ठ 15
[53] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, पूर्वोक्त, पृष्ठ 89
[54] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, पूर्वोक्त, पृष्ठ 50
[55] वही, पृष्ठ 38-39
[56] रामधारी सिंह दिनकर, कुरुक्षेत्र, पूर्वोक्त, पृष्ठ 76
[57] वही, 82-84
[58] वही, पृष्ठ 79
[59] वही, पृष्ठ 82
[60] रामधारी सिंह दिनकर, मृत्ति तिलक, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1987, पृष्ठ 11
[61] वही, पृष्ठ 25-26

अध्याय चार

दिनकर के काव्य में राष्ट्रवादी स्वर

उपनिवेशवाद का विरोध

राष्ट्रीय एकता की चुनौतियां

राष्ट्रीय गौरव की भावना

क्रांति और स्वतंत्रता : चुनाव का प्रश्न

दिनकर का राष्ट्रवाद

उपनिवेशवाद का विरोध

ब्रिटिश सत्ता की स्थापना का मार्ग आक्रमण और युद्ध नहीं बल्कि मैत्रीपूर्ण व्यापार था किन्तु संसाधनों पर ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के नियंत्रण ने भारत को ब्रिटिश उपनिवेश में बदल दिया। कंपनी ने अपने मुनाफे के लिए शोषण की जो परम्परा कायम की वह ब्रिटिश राज में भी जारी रही। इस शोषण का विरोध जनप्रतिनिधियों के साथ-साथ तत्कालीन रचनाकारों ने भी किया। दिनकर ने भी अपना लेखन विरोध के इसी दौर में शुरू किया था। इस उप-अध्याय में हम देखेंगे कि उपनिवेशवाद के प्रति दिनकर की क्या भंगिमा रही है, उनके विरोध का स्वरूप क्या रहा है? जाहिर है कि इस पड़ताल के लिए हम केवल स्वतंत्रता प्राप्ति तक लिखी गई उनकी रचनाओं पर ही ध्यान देंगे।

आधुनिक हिन्दी काव्यक्षेत्र में दिनकर के आगमन से पूर्व राष्ट्रीय कविताओं की एक परंपरा तैयार हो चुकी थी। इस परम्परा का अपना वैशिष्ट्य है। आचार्य शुक्ल कहते हैं ''भारतेंदु हरिश्चंद्र ने जिस प्रकार गद्य की भाषा का स्वरूप स्थिर करके गद्य साहित्य को देशकाल के अनुसार नए नए विषयों की ओर लगाया, उसी प्रकार कविता की धारा को भी नए नए क्षेत्रों की ओर मोड़ा। इस नए रंग में सबसे ऊंचा स्वर देशभक्ति की वाणी का था। उसी से लगे हुए विषय लोकहित, समाजसुधार, मातृभाषा का उद्धार आदि थे।''[1] भारतेंदु ने साहित्य के क्षेत्र में जो काम किया उसके वैविध्य और वैशिष्ट्य पर हिन्दी साहित्य का कोई भी सहृदयी गर्व करेगा। देशहित भारतेन्दु की कविताओं का मूल तत्व है, किन्तु उनके समय तक ब्रिटिश राज को समस्याओं के मूल कारण के तौर पर चिन्हित नहीं किया गया था और इसीलिए उनकी कविताओं में विरोध भी आमतौर पर प्रत्यक्ष न होकर व्यंग्य शैली में दिखाई देता है। राष्ट्रीय काव्य की दूसरी श्रेणी द्विवेदी युग के कवियों, विशेषकर मैथिलीशरण गुप्त के यहां दिखती है, जो आदर्शवाद तथा आर्य संस्कृति पर जोर देती है।

राष्ट्रीय काव्यधारा के विकास को लक्षित करते हुए चन्द्रबली सिंह लिखते हैं कि ''हिन्दी साहित्य के इतिहासकार बहुधा गुप्तजी, एक भारतीय आत्मा, नवीन और दिनकर इत्यादि को एक ही सांस में राष्ट्रीय कवि कहकर छुट्टी पा लेते हैं, किंतु गंभीरता से देखने से ज्ञात होता है कि गुप्तजी और बाद वाले कवियों की राष्ट्रीय चेतना में दो युगों का व्यवधान

है।... इन दो युगों का अंतर केवल भावभूमि और शैली तक ही सीमित नहीं, वरन् उनकी राष्ट्रीयता के स्तरों और उनके सामाजिक और राष्ट्रीय दृष्टिकोण तक व्याप्त है।''[2] तात्पर्य यह कि राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास के साथ-साथ साहित्यिक संवेदना भी विकसित होती गई। निश्चित ही राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास तथा जनता की सक्रिय भागीदारी ने रचनाकारों की संवेदना को प्रभावित किया होगा। खुद दिनकर के प्रसंग में भी इसे देखा जा सकता है। लेखकीय जीवन के आरम्भ में ही बारदोली आंदोलन की जीत पर केन्द्रित उनका 'विजय संदेश' 1928 में प्रकाशित हुआ और 1929 में महाभारत की एक कथा पर आधारित खण्ड काव्य 'प्रणभंग'। 'प्रणभंग के बारे में एक आलोचक की यह टिप्पणी बिल्कुल सही है कि ''यह प्रकारातंर से ब्रिटिश शासन में भारतीयों की अपमानजनक स्थिति के प्रति कवि का आक्रोश तथा उन्हें ललकारने का भाव भी है। यही प्रवृत्ति दिनकर के परवर्ती काव्य में और भी मुखर हुई।''[3]

पूर्ववर्ती साहित्यकारों से अलग दिनकर की कविताएं शोषण और दमन का केवल स्पष्ट विरोध ही नहीं करती हैं, बल्कि विद्रोह का आह्वान भी करती हैं। वे इस अर्थ में भी भिन्न हैं कि उनका आह्वान सम्प्रदाय विशेष को संबोधित नहीं है। दिनकर के संग्रह 'रेणुका' में उनके उपनिवेश विरोधी स्वर की हल्की सी झलक तो मिली थी लेकिन उनका आक्रामक रूप उभरकर सामने नहीं आया। 1939 में प्रकाशित 'हुंकार' में न केवल दिनकर का रचनागत वैविध्य दिखाई दिया, बल्कि अपने देश और समाज के प्रति उनकी चिंता और उससे उबरने की छटपटाहट बहुत ही प्रखर रूप में सामने आई। 'हुंकार' की कविताओं में विद्रोह का स्वर प्रत्यक्ष भी है और तीक्ष्ण भी। अपने समय की मांग को ठीक-ठीक पहचानने के कारण दिनकर ब्रिटिश साम्राज्य (ग्रेट ब्रिटेन) को 'हुंकार' में खुली चेतावनी देते हैं 'ओ महादेश ! बुरा फल है शूरों के शोणित पीने का/ देना होगा तुम्हें एक दिन गिन-गिन मोल पसीने का।[4] इस संग्रह की कई कविताओं में विद्रोह का यही तेवर देखा जा सकता है। जाहिर है कि दिनकर का उपनिवेश विरोध प्रत्यक्ष था। 'दिल्ली' कविता में दिल्ली को 'ब्रिटेन की दासी' कहकर कोसते हुए वे औपनिवेशिक दमन तथा लूट का जिक्र करते हैं

आहें उठी दीन कृषकों की, मजदूरों की तड़प पुकारें
अरी गरीबों की लोहू पर खड़ी हुई तेरी दीवारें

अंकित हैं कृषकों के गृह में तेरी निठुर निशानी
दुखियों की कुटिया रो रो कहती तेरी मनमानी।[5]

इस कविता में भी दिनकर शोषण के खिलाफ भावी विद्रोह की संभावना जाहिर करते हैं। दिनकर विरोध के लिए व्यंग्य का सहारा नहीं लेते, बल्कि अपने पूर्ववर्ती कवियों के उलट बहुत तीखे लहजे में स्पष्ट विरोध करते हैं। उनका यह लहजा ही था जिसके कारण 'हुंकार' के प्रकाशन पर मुंगेर जिले का मजिस्ट्रेट उनकी कविताओं के लिए उन्हें चेतावनी देने पर मजबूर हुआ।[6] 'अनल-किरीट', 'शहीद-स्तवन', 'विपथगा' जैसी 'हुंकार' की कविताओं ने न केवल राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति दिनकर के झुकाव को स्पष्ट कर दिया बल्कि राष्ट्रीय धारा के कवियों में उन्हें एक विशिष्ट पहचान भी दिलायी।

शोषण का विरोध एक अनिवार्यता है, किन्तु उपनिवेशवाद के प्रसंग में तत्कालीन दौर विरोध के स्वरूप की चिंताओं से भी जूझ रहा था। ये चिंताएं भी दिनकर की कविताओं में दिखाई देती हैं, खासकर 'कुरुक्षेत्र' में। 'हुंकार' के प्रकाशन के वक्त तक ब्रिटिश सरकार का स्पष्ट विरोध होने लगा था, लेकिन विरोध की नीतियों पर सहमति नहीं थी। गांधी अहिंसा के पक्षधर थे और उनका प्रभाव भी बहुत व्यापक था, लेकिन उपनिवेश विरोध का आन्दोलन जितना ही व्यापक होता गया उसमें विरोध के उतने ही तीखे स्वर भी उठने लगे। मन्मथनाथ गुप्त लिखते हैं कि ''एक कांग्रेसी चन्द्रशेखर आजाद, जिन्होने 1921 में हर कोड़े पर 'महात्मा गांधी की जय का घोष किया, वह... इतना बदले कि महान क्रांतिकारी हो गए, यह सुपरिचित है। और भी सैकड़ों बदले।''[7] गांधी की अहिंसावादी राजनीति का आरम्भ होने के बावजूद उस दौर के विभिन्न आन्दोलनों को ब्रिटिश सरकार ने जिस निर्ममता से कुचलने का प्रयास किया वह गांधी की राजनीति का अपेक्षित प्रत्युत्तर नहीं था। भगतसिंह और उनके साथियों की फांसी ने यह भ्रम भी दूर कर दिया कि ब्रिटिश सरकार नियम-कानून के धरातल पर न्याय की पक्षधर है। ऐसी स्थितियों ने गांधी की अहिंसावादी राजनीति की प्रासंगिकता पर सवाल खड़े कर दिये थे। अहिंसा और शान्ति की इस राजनीति पर सवाल उठाते हुए दिनकर पूछते हैं

बोलें कुछ मत क्षुधित रोटियां श्वान छीन खाएं यदि कर से
यही शान्ति जब वे आएं हम निकल जाएं चुपके निज घर से।[8]

गांधी आन्दोलनों के उग्र रूप के खुले विरोधी थे। वे अपने अहिंसावादी रवैये के बल पर ब्रिटिश सरकार से आजादी चाहते थे। अहिंसा के अपने दृष्टिकोण के कारण उन्होंने न केवल बारदोली आन्दोलन को एकाएक रोक देने का निश्चय किया था, बल्कि 1931 में उन्होंने यहां तक कहा कि ''अहिंसा में बट्टा न लगे तो मुझे हार भी कुबूल होगी, बाल बराबर हटकर भी संशयात्मक सफलता पाना मुझे कबूल न होगा।''[9] हिंसा उनकी दृष्टि में पाप थी। निश्चित ही गांधी की विचारधारा को पसंद करने वाले उनके अनुयायियों की संख्या कम नहीं थी, लेकिन कइयों के लिए अहिंसा का यह दृष्टिकोण अव्यावहारिक भी था और गलत भी। दिनकर भी ऐसे ही लोगों में थे। 'कुरुक्षेत्र' में इस दृष्टिकोण से टकराते हुए वे सवाल करते हैं कि

पापी कौन ? मनुज से उसका
न्याय चुराने वाला ?
याकि न्याय खोजते विघ्न का
सीस उड़ाने वाला ?[10]

पाप-पुण्य और हिंसा के गांधीवादी नजरिये को दिनकर नहीं स्वीकार करते। दिनकर मानते थे कि ''अहिंसा परम धर्म है और हिंसा आपद्धर्म है। लेकिन भारत के इतिहास में ऐसे दृष्टान्त बहुत हैं, जिनसे पता चलता है कि जब-जब हमने आपद्धर्म का अनादर किया है तब तब हमारा परम धर्म आपसे आप नष्ट हो गया है।''[11] पाप और पुण्य उनकी दृष्टि में कोई स्थिर सत्य नहीं हैं, बल्कि परिस्थितियों की सापेक्षिकता में तय होने वाले मानदंड हैं। एक स्थिति में जो हिंसा पाप का पर्याय होती है, अनिवार्य दायित्व की किसी दूसरी स्थिति में वह पुण्य बन जाती है। अस्तित्व के संकट की परिस्थितियों में वे न केवल हिंसा को वरेण्य मानते हैं, बल्कि ऐसा न करने वाले को पाप का भागी भी मानते हैं

छीनता हो स्वत्व कोई, और तू
त्याग-तप से काम ले यह पाप है।
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।[12]

जाहिर है कि ब्रिटिश शासन स्वत्व ही छीन रहा था ऐसे में 'अहिंसा' का पाठ दिनकर की दृष्टि में जनता को उसके अधिकारों तक से वंचित कर सकता था। बावजूद इसके कि दिनकर गांधी का सम्मान करते थे, उनकी कविताओं से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आन्दोलन के संघर्ष में वे उग्र और हिंसक विद्रोहियों से ज्यादा निकटता महसूस करते थे। उन्हें यकीन था कि शक्ति संघर्ष में ब्रिटिश सरकार हारेगी और जनता जीतेगी। शायद यही वजह है कि उन्होंने अपनी कविता के जरिये जहां जनता को जीत का भरोसा दिलाया, वहीं सरकार के भीतर विद्रोह का भय पैदा करने का प्रयास भी किया। इस लिहाज से 'विपथगा' का ये अंश देखने योग्य हैं

चढ़कर जुनून सी चलती हूं मृत्युंजय वीर कुमारों पर
आतंक फैल जाता कानूनी पालमेंट सरकारों पर
*** *** ***
भयभीत पातकी धर्मों से अपने पग मैं धुलवाती हूं
सिर झुका घमंडी सरकारें तब करती मेरा अर्चन पूजन[13]

'श्वानों को मिलता दूध भात' 'विपथगा' की बेहद चर्चित पंक्तियां हैं। लूट और दमन की ऐसी चरम सीमाओं की याद दिलाते हुए अहिंसा और शान्ति की नाम लेना दिनकर ही नहीं शायद उनके श्रोताओं और पाठकों को भी क्रूर मजाक लगता। यही वजह है कि कविता का एक पक्ष अगर असहनीय मानवीय स्थिति पर ध्यान दिलाता है, तो उसका दूसरा पक्ष हिंसक विद्रोह की उतनी ही खुली घोषणा करता है। स्वराज्य के राष्ट्रीय आन्दोलन में गांधी ने अहिंसा का चुनाव किया था किन्तु हिंसक विरोध का समर्थन करने वाला दूसरा पक्ष भी मौजूद था। दिनकर ने विरोध के दूसरे पक्ष को चुना। उनका यह चुनाव बताता है कि वे गांधी अथवा कांग्रेस की लाइन पर नहीं चल रहे थे। 'हुंकार' में मौजूद कविताएं उनकी साम्प्रदायिकता विरोधी धर्म निरपेक्ष दृष्टि का भी प्रमाण हैं। मुस्लिम लीग की पृथक राजनीति स्वराज्य के लिए खतरा थी, जबकि स्वराज्य के बिना लूट और दमन का सिलसिला खत्म होने की कोई गुंजाइश नहीं थी। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वराज्य पर मौजूद खतरे के इस अंदेशे ने ही गांधी पर उनकी आस्था के बावजूद उन्हें विरोध के हिंसक तरीकों का पक्षधर बना दिया। उनकी धर्मनिरपेक्ष दृष्टि ब्रिटिश सरकार के खिलाफ हिंसक विद्रोह के इस तरीके को और भी बल प्रदान करती थी।

राष्ट्रीय एकता की चुनौतियां

1857 में ब्रिटिश राज कायम होने के कुछ ही वर्षों बाद राजनीतिक तौर पर सचेत भारतीय तबका यह महसूस करने लगा कि उसे अपने अधिकारों के लिए संगठित होना पड़ेगा, संघर्ष करना पड़ेगा। संगठन और संघर्ष की इसी जरूरत के चलते 1885 में कांग्रेस का गठन हुआ। अधिकारों का यह संघर्ष बहुत तेजी से अपना विस्तार करते हुए बीसवीं सदी के आरम्भिक दशकों में ही स्वराज्य की मांग का रूप लेने लगा। औपनिवेशिक दमन का चौतरफा और बहुस्तरीय होते चले जाना स्वराज्य की इस मांग का कारण बना। कंपनी शासन के साथ शोषण की जो प्रक्रिया शुरू हुई थी वह ब्रिटिश राज में और भी जोर-शोर से कायम रही। सस्ते विदेशी कपड़े के आयात ने कपड़ा उद्योग को तबाह किया था और जमींदारी की नई व्यवस्था तथा अत्यधिक लगान वसूली ने भारतीय कृषि क्षेत्र को बरबाद कर दिया। भारतीय सम्पदा के विदेशी हाथों में चले जाने से गरीबी का स्तर दिनों-दिन बढ़ता गया। रोजगार छिन गए और आमजन को जीविका के लिए मजदूर बनने को विवश होना पड़ा। इन सबके बीच कई अकाल पड़े। आम जनता की स्थितियां बद से बदतर होती गईं। इन समस्याओं के खिलाफ अक्सर विद्रोह हुए, लेकिन वे संगठित नहीं हो सके। औपनिवेशिक शासन के खिलाफ संघर्ष में कामयाब होने के लिए जिस शक्ति की आवश्यकता थी, वह शोषण के विभिन्न रूपों को झेल रही जनता की राष्ट्रीय एकजुटता से ही संभव थी। इसके लिए राष्ट्रीय राजनीति के प्रतिनिधियों ने विभिन्न समुदायों तथा वर्गों की समस्याओं को पहचानने और विभिन्न मुद्दों पर आम सहमति बनाने का प्रयास किया।

स्वराज्य का आन्दोलन एकजुटता और संघर्ष की जिन समस्याओं से जूझ रहा था उसकी स्पष्ट गूंज तत्कालीन साहित्य में भी सुनाई देती है। अतीत से लेकर वर्तमान तक की धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक समस्याओं को साहित्यकारों ने अपना विषय बनाया। उसके नकारात्मक तत्वों को चिन्हित करते हुए सद्भावना और स्वाभिमान से जुड़े पहलुओं को जनता के बीच प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। दिनकर का साहित्य भी इससे अछूता नहीं था।

भारत का भू-क्षेत्र जितना विस्तृत था, उसमें भिन्नता और भेदभाव का बोध भी उतना ही व्यापक था। जाति और धर्म की भिन्नताएं इस एकजुटता की राह में सबसे बड़ी बाधा थीं। जातिगत भेदभाव, खासकर छुआछूत के कारण विभिन्न जातियों का संघर्ष के धरातल पर एकजुटता के साथ खड़ा होना संभव नहीं था। दलितों के प्रति घृणा और भेदभाव की भावना पूरे समाज में फैली हुई थी। देश भर में चलने वाले मंदिर प्रवेश के उदार आन्दोलनों के तीव्र विरोधों ने यह साबित कर दिया कि दलितों की धार्मिक बराबरी भी उच्चजातियों को स्वीकार नहीं है। इस जातिवादी मानसिकता का प्रतिकार करते हुए दिनकर ने 'बोधिसत्व' कविता में लिखा

आज दीनता को प्रभु की पूजा का भी अधिकार नहीं!
देव! बना था क्या दुखियों के लिए निठुर संसार नहीं?
*** *** ***
अनाचार की तीव्र आंच में अपमानित अकुलाते हैं,
जागो बोधिसत्व! भारत के हरिजन तुम्हें बुलाते हैं।[14]

सामाजिक तथा साहित्यिक दोनों धरातलों पर चलने वाले इन प्रयासों ने ही निम्नजातीय जनता में स्वाधीनता की चाह पैदा की और उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़ने का आधार दिया। धार्मिक अलगाव दूसरी बड़ी समस्या थी। 19वीं सदी में ही हिन्दू-मुस्लिम विरोध बढ़ने लगा था। माना जाता है कि यह अंग्रेजों की सोची-समझी साजिश का परिणाम था। इस धार्मिक विरोध के कारण दोनों ही समुदायों का एक हिस्सा साम्प्रदायिक राजनीति में लगा हुआ था। इसका परिणाम न केवल हिन्दू महासभा और मुस्लिम लीग जैसे संगठनों के उदय के रूप में सामने आया, बल्कि यह साम्प्रदायिक दंगों की वजह भी बना। स्वराज्य के आन्दोलन के बीच हिन्दुओं-मुस्लिमों के इस विरोध पर अपनी कविता 'तकदीर का बंटवारा' में दिनकर ने लिखा कि

हाथ की जिसकी कड़ी टूटी नहीं,
पांव में जिसके अभी जंजीर है;
बांटने को हाय! तौली जा रही,
बेहया उस कौम की तकदीर है![15]

बंटवारे की पीड़ा दिनकर की कविताओं में केवल विभाजन के पहले ही नहीं, बल्कि आजादी के बाद लिखी कविताओं में भी प्रकट हुई है। एक कविता में उन्होंने 'मां' के आंचल के फटे हुए दोनों टुकड़ों को सिलने की कामना व्यक्त की है। दिनकर की कविता में इस बात की गहरी कसक मौजूद है कि अगर भारत के हिन्दू-मुसलमान अपनी नियति को समझकर एक हो जाते तो 'हिन्द वाले आसमां पर बोलते'।[16]

साम्प्रदायिकता के आधुनिक रूप का उदय साहित्य में दिनकर के आगमन से काफी पहले ही हो चुका था। दिनकर के युग में वह अपने चरम पर पहुंच गई। आम हिन्दू-मुसलमानों के हितों में कोई टकराव नहीं था, उनके हित और संघर्ष एक से थे लेकिन प्रतीकों की राजनीति ने उन्हें एक-दूसरे के खून का प्यासा बना दिया। गाय भी ऐसा ही एक प्रतीक बनी। यह बात ध्यान देने की बात है कि दिनकर आस्थावान हिन्दू थे, लेकिन उनका मानवतावाद इंसान की जिंदगी की तुलना किसी पशु से नहीं कर सकता था

खूं बहाया जा रहा इंसान का
सींग वाले जानवर के प्यार में!
कौम की तकदीर फोड़ी जा रही
मस्जिदों की ईंट की दीवार में।[17]

साम्प्रदायिकता के प्रसंग में दिनकर का पक्ष बिल्कुल स्पष्ट था, उन्होंने हमेशा ही इसका विरोध किया। दिनकर ने कई कविताओं में अतीत को अपना विषय बनाया है। आमतौर पर ऐसी कविताएं गौरवशाली इतिहास के जरिये मानवीय मूल्यों तथा सामंजस्य की प्रतिष्ठा करती हैं। 'हिमालय' दिनकर की प्रसिद्ध कविताओं में से एक है, इस कविता में वह प्राचीन इतिहास को याद करते हुए वर्तमान में संघर्ष की जरूरत पर जोर देते हैं। उपनिवेशवादियों ने भारत के मुगलकालीन दौर की नकारात्मक छवि गढ़ी थी, जिसे साम्प्रदायिक तत्वों ने खूब प्रचारित-प्रसारित किया था। 'दिल्ली' कविता में विभिन्न मुगल शासकों को याद करते हुए दिनकर उस छवि को तोड़ने का प्रयास करते हैं। गौरवशाली इतिहास की याद दिलाती 'कस्मै देवाय' कविता में वे वर्तमान पर दुख जताते हैं और एकजुटता का आह्वान करते हुए कहते हैं

धर्म-भिन्नता हो न, सभी जन/ शैल-तटी में हिल-मिल आएं;
उषा के स्वर्णिम प्रकाश में/ भावुक भक्ति-मुग्ध-मन गाएं।[18]

संदेह नहीं कि ये कविताएं अतीत को तोड़-मरोड़ कर जनता में साम्प्रदायिकता का प्रचार किये जाने का स्पष्ट प्रतिवाद कर रही थीं। बहरहाल, राष्ट्रीय एकजुटता की जो जरूरत ब्रिटिश राज से संघर्ष के लिए थी, स्वाधीनता मिलने के साथ ही वह जरूरत खत्म नहीं हो गई। आम जनता का शोषण ब्रिटिश राज के विरोध की मूल वजह थी और जनता की एकजुटता का कारण भी वही था। स्वाधीनता ने यह तो सुनिश्चित किया कि देश की सम्पदा देश के भीतर ही रहेगी किन्तु यह सुनिश्चित करना बाकी रह गया कि उसका इस्तेमाल आम जनता के हित में होगा। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान जो धार्मिक अलगाव उभर कर सामने आया और अंततः उसने जो साम्प्रदायिक रूप ग्रहण किया, उससे पार पाने की जरूरत भी बाकी रह गई। इसी तरह जाति आधारित भेदभाव के खिलाफ आन्दोलन तो खूब चले लेकिन जातिगत भेदभाव आजादी के बाद भी बना रहा। ऐसे बहुतेरे प्रश्न थे जो स्वाधीनता के बाद भी राष्ट्रीय एकता की मांग करते थे।

अमीरी गरीबी की विराट खाई और जातिवाद तथा धार्मिक अलगाववाद के रहते कोई भी देश ताकतवर होना तो दूर, ठीक से एक राष्ट्र भी नहीं बन सकता। देश को आजादी तो मिल गई थी, लेकिन उसका एक संगठित राष्ट्र बनना अभी बाकी था। 'समर शेष है' शीर्षक कविता में दिनकर ने हिन्दू-मुसलमानों को एकसूत्र में जोड़ने का आह्वान किया।[19] चीन के आक्रमण के वक्त दिनकर ने रोष जताते हुए लिखा 'जबतक है वैषम्य समाज सड़ेगा/ किस तरह एक होकर यह देश लड़ेगा?'[20] इस कविता का अंत मंदिर-मस्जिद, गिरजे-गुरुद्वारों सभी से मिलकर देश की विजय के लिए प्रार्थना करने को कहा गया है।

भारत की एकता के प्रबल पक्षधर दिनकर ने इस एकता को पुष्ट करने के लिए भारतीय इतिहास और संस्कृति का गहन अध्ययन किया। भारत की सामासिक संस्कृति में विविध धर्मों और सभ्यताओं के योगदान तथा साझेपन को रेखांकित करती उनकी पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' राष्ट्रीय एकता के लिए किये गए बौद्धिक प्रयासों में सर्वोपरि है। व्यापक अध्ययन और गहरी संवेदनशीलता के कारण दिनकर की राष्ट्रीय भावना से संबंधिक कविताएं उन्हें अन्य कवियों की तुलना में एक विशिष्टता प्रदान करती हैं। देश की नदियों, पहाड़ों और मातृभूमि की वंदना करने के बावजूद दिनकर जानते थे कि राष्ट्र केवल जमीन के किसी टुकड़े का नाम नहीं है।[21] राष्ट्र बनता है वहां रहने वाले लोगों से और अगर किसी देश

के नागरिकों में एकता नहीं हो तो वह अभी पूरी तरह राष्ट्र नहीं बन सका है। 'किसको नमन करूं' शीर्षक कविता में दिनकर ने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया कि जहां लोग बंटे हुए हैं, एक-दूसरे से भयभीत हैं वह मेरी कल्पना का भारत नहीं हो सकता। भारत वहीं है जहां प्रेम और एकता मौजूद है।

वहां नहीं तूं जहां जनों से ही मनुजों को भय है
सबको सबसे त्रास सदा, सब पर सबका संशय है।
*** *** ***
जहां कहीं एकता अखंडित, जहां प्रेम का स्वर है;
देश-देश में वहां खड़ा भारत जीवित भास्वर है।[22]

दिनकर की कविताओं का बड़ा हिस्सा शौर्य तथा उत्सर्ग की भावनाओं पर केन्द्रित रहा। राष्ट्रीय एकता पर बात करते हुए ऐसी कविताओं की आधार-भूमि को भुलाया नहीं जाना चाहिए। दिनकर बताते हैं कि उन्होंने अपने चारो ओर पराधीनता की बेड़ियों से छूटने की बेचैनी देखी थी। देश की बेचैनियों और क्रोध को अपनी कविता में छंदबद्ध कर देना ही उन्होंने अपना युगधर्म माना।[23] वीरता और बलिदान का महिमामंडन करने वाली ये कविताएं सही को सही और गलत को गलत कहे जाने के साहस की मांग करती हैं। इस साहस के बिना स्वराज्य तो दूर सुधार का भी कोई आन्दोलन चलाना मुमकिन नहीं था।

राष्ट्रीय गौरव की भावना

उन्नीसवीं सदी के भारत पर अंग्रेजी ज्ञान-विज्ञान का जैसा प्रभुत्व स्थापित हुआ, उसने भारतीय इतिहास और संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर सवाल खड़े कर दिये। सती प्रथा, बाल विवाह, विधवा धर्म, पर्दा प्रदा तथा छुआछूत जैसी रूढ़ियां जिन्हें भारतीय परम्परा के बेहद मूल्यवान तत्व माना जाता था, इस नए ज्ञान ने उन्हें नकारात्मक ही नहीं निन्दनीय भी सिद्ध कर दिया। सामाजिक संस्कृति पर पड़े इतने बड़े आघात ने भारतीय समुदाय से जैसे उसका

सर्वस्व ही छीन लिया। यदि संस्कृति की यह सारी चीजें निंदनीय हैं, तो भारतीय समुदाय गर्व किस पर करे? इस सवाल ने तत्कालीन समाज को अतीत में झांकने की मजबूरी पैदा की और खुद को बदलने को प्रेरणा भी दी। भारतीय नवजागरण और पुनरुत्थानवाद के जन्म की पृष्ठभूमि भी यही थी।[24] ब्रिटिश सत्ता ने अपने कब्जे को जायज ठहराने के लिए मुगलकाल को भारतीय इतिहास के काले अध्याय के रूप में प्रचारित-प्रसारित किया ही था। ऐसे में परम्परा में मौजूद विभिन्न समस्याओं को मुगलों के आक्रमणों की प्रतिक्रिया मान लिया गया और धीरे-धीरे ये समस्याएं मुस्लिम विरोध का जरिया बन गईं।

सामासिक संस्कृति के प्रति भारतीय जनमानस का जो स्वाभिमान वर्षों में विकसित हुआ था, औपनिवेशिक शासन की 'सभ्यता' और नीतियों ने कुछ ही वर्षों में उसे चूर-चूर कर दिया था। स्वराज्य का आन्दोलन आरम्भ होने पर इन स्थितियों के चलते एकजुटता की समस्या भी खड़ी हो गई। समस्या केवल हिन्दू-मुस्लिम एकता की ही नहीं, यह भी थी कि सदियों से अधीनता में जी रही जनता क्या स्वराज्य का संघर्ष करने में सक्षम है? इन स्थितियों ने इतिहास, परम्परा और वर्तमान के गौरवशाली तत्वों को खोजने, सामने लाने और प्रचारित-प्रसारित करने की आवश्यकता पैदा की। कहा जा सकता है कि स्वराज्य का राष्ट्रीय आन्दोलन ब्रिटिश सरकार से आजादी के साथ-साथ छिन्न-भिन्न हो चुके आत्मगौरव की पुनः प्राप्ति का भी आन्दोलन था। सर्वविदित है कि साहित्य जनमानस में आसानी से पैठ बना पाता है क्योंकि चोट खाई हुई भावनाओं, संवेदनाओं को दुलराते हुए वह नई ऊर्जा प्रदान करने की भी संभावना रखता है। तत्कालीन साहित्यकारों ने भी अपनी भूमिका पहचानते हुए इस आन्दोलन में अपना योगदान दिया।

दिनकर की कविताओं में भी राष्ट्रीय गौरव की भावना से जुड़े प्रसंग खूब मिलते हैं। ऐसी कविताओं में कई बार वे अतीत को याद करते हैं, लेकिन ध्यान देने की चीज यह है कि अतीत का चित्रण करने वाली ये कविताएं वर्तमान को विस्थापित नहीं करतीं बल्कि अतीत और वर्तमान इनमें साथ-साथ चलते हैं। पुनरुत्थानवादियों की तरह दिनकर (पौराणिक अथवा प्राचीन) इतिहास को ही गौरव की वस्तु नहीं समझ लेते, बल्कि इतिहास को वे आधुनिक मूल्यों के नजरिये से देखने-परखने का प्रयास करते हैं। इस प्रक्रिया में दिनकर अतीत से उन्हीं पात्रों अथवा घटनाओं को उठाते हैं जो तत्कालीन परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिक बन पड़ें। समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त

से लेकर अशोक तक तथा अकबर, बाबर से लेकर औरंगजेब तक वे इतिहास के विभिन्न चरित्रों के किसी खास मूल्य को याद दिलाते हैं। 'रेणुका' में शौर्य के गौरवशाली इतिहास को याद दिलाते हुए आखिर में वे कहते हैं कि

देवि! दुखद है वर्तमान की/ यह असीम पीड़ा सहना।
नहीं सुखद संस्मृति में भी/ उज्जवल अतीत की रत रहना।[25]

कहने का तात्पर्य यह कि न तो इन कविताओं में अतीत के महिमामंडन का प्रयास है, न ही ये यथार्थ से पलायन को प्रेरणा। अतीत का गौरव वर्तमान में अपना कर्तव्य सुनिश्चित करने को प्रेरित करता है। यह भी बेहद दिलचस्प है कि जहां एक ओर दिनकर वीर-भाव के लिए अतीत में चन्द्रगुप्त और समुद्रगुप्त को देखते हैं तो दूसरी ओर बुद्ध और अशोक का इतिहास वे अहिंसा के विवेकपरक चुनाव के लिए याद करते हैं। दोंनो रूपों को बराबर वजन के साथ मूल्य के तौर पर प्रतिष्ठित करना दिनकर के अंतर्विरोध को जाहिर करता है, खासतौर पर इसलिए कि वे बताते हैं कि अशोक की अहिंसा का जन्म अतिशय हिंसा के वीभत्स पहलू को देखकर पैदा हुआ था। हालांकि पिछले उप-अध्याय में हम देख चुके हैं कि दिनकर की दृष्टि में पाप-पुण्य स्थिति सापेक्ष मूल्य हैं। राष्ट्रीय गौरव के प्रसंग में भी उनके इस दृष्टिकोण का ध्यान रखें तो समझ सकते हैं कि हिंसा तथा अहिंसा दोनों को ही गौरवशाली इतिहास के रूप में अपने पाठकों के सामने रखने की क्या वजहें हैं। उपनिवेशवाद विरोधी आन्दोलन के अहिंसक तथा हिंसक दोनों ही रूप तत्कालीन राजनीति में मौजूद थे। ऐसे में दोनों को ही प्रतिष्ठित करना परिस्थितियों के अनुसार चुनाव का आग्रह करता है।

ब्रिटिश सरकार के खिलाफ स्वराज्य के आन्दोलन में बहुतों को अपनी जिंदगी गंवानी पड़ी। स्वराज्य के आन्दोलन और जनता की एकजुटता में उनके बलिदान का महत्वपूर्ण योगदान था। अपनी कविताओं में दिनकर ने इन शहीदों को अक्सर याद किया है। 'धूप और धुंआ' की एकाधिक कविताएं संघर्ष और बलिदान की इस भावना से संबंध रखती हैं। 'भारतीय सेना का प्रयाण' शीर्षक कविता में दिनकर वीरतापूर्वक लड़ने और दुश्मन के आगे न झुकने के लिए विक्रमादित्य से लेकर शिवाजी और राणाप्रताप को याद करते हैं तो 'वीर-वन्दना' कविता में औपनिवेशिक शासन से संघर्ष के लिए भगतसिंह, यतीन्द्रनाथ और

गांधी आदि की आत्मोत्सर्ग की भावना को भारतीय भावना के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए लिखते हैं

वीर-वन्दना की बेला है, कहो, कहो क्या गाऊं!
अमर ज्योति वह कहां देश की जिसको शीश झुकाऊं?
दिखा नहीं दर्पण पातक का अरे गांस मत मार,
अश्रु पोंछकर जीने को होने तो दे तैयार।
कालशिखर से बोल रहा है यह किस ऋषि का बलिदान,
कमलपत्र पर लिखो, लिखो कवि! भारत का जयगान! [26]

औपनिवेशिक शोषण के खिलाफ संघर्ष की प्रक्रिया ने भारत को एक राष्ट्र के रूप में संगठित होने का मौका दिया किन्तु जाति-धर्म की विविधताओं से भरे भारतीय समाज में एक राष्ट्र की चेतना केवल उसके भौगोलिक क्षेत्र के बल पर संभव नहीं थी। सामाजिक चेतना में भारत किस रूप में अंकित हो तथा आजादी को मूल्यवान और गौरवशाली बनाने वाली चीजें कौन सी हैं, इसे स्पष्ट करना एक बड़ा दायित्व था। इस दायित्व को स्वीकार करते हुए दिनकर ने अपने काव्य में एक तरफ गौरवशाली सांस्कृतिक प्रतीकों को स्थान दिया, वहीं दूसरी ओर राष्ट्र के भौगोलिक परिवेश के प्रति भी गहरा अनुराग व्यक्त किया। जिस तरह बंकिमचन्द्र ने अपने अमर गीत 'वन्दे मातरम' में भारतभूमि की वंदना की है, उसी तरह दिनकर ने भी 'किसको नमन करूं' भारत की नदियों, पहाड़ों इत्यादि के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की है। हिन्दी कवियों में निराला और जयशंकर प्रसाद ने भी राष्ट्रभूमि की महिमा को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, लेकिन दिनकर का प्रयास इस अर्थ में उक्त कवियों से बड़ा है कि वे राष्ट्र को भूमि या प्रकृति तक सीमित नहीं मानते, वे देश की जनता के भीतर राष्ट्र को देखते हैं और इससे भी आगे बढ़कर वे राष्ट्र को मानवता के कुछ मूल्यों का वाचक बताते हैं

भारत नहीं स्थान का वाचक, गुण विशेष नर का है,
एक देश का नहीं, शील यह भूमंडल भर का है।
जहां कहीं एकता अखंडित, जहां प्रेम का स्वर है;
देश-देश में वहां खड़ा भारत जीवित भास्वर है।
निखिल विश्व को, जन्मभूमि-वन्दन को नमन करूं मैं।

किसको नमन करूं मैं भारत! किसको नमन करूं मैं?[27]

अपनी एक अन्य कविता में दिनकर कहते हैं 'भारत एक स्वप्न, भू को ऊपर ले जानेवाला/ भारत एक विचार, स्वर्ग को भू पर लाने वाला।'[28] जाहिर है कि ऐसी कविताओं में दिनकर भौगोलिक क्षेत्र से इतर प्रेम, शान्ति और एकता जैसे मानवीय मूल्यों को राष्ट्रीय गौरव के मूल तत्वों के रूप में प्रतिष्ठा दिलाते हैं।

जाहिर है कि मूल्य के रूप में राष्ट्र की भव्य कल्पना एक वांछित आदर्श था, वर्तमान हकीकत नहीं। लेकिन अपने मौजूदा रूप में भी राष्ट्र की भूमिका दिनकर के लिए वंदनीय थी। राजतंत्र के दौर में भी अपनी मिट्टी के प्रति लोगों में एक सहज अनुराग की भावना होती थी लेकिन वह भावना बड़ी स्थानीय किस्म की होती थी। ये राष्ट्र-राज्य थे जिन्होंने पहली बार एक व्यापक भूक्षेत्र के प्रति लोगों में आस्था पैदा की, उसे नागरिकों की प्राथमिक पहचान बना दिया। औपनिवेशिक शोषण ने देश की जनता को अन्न और वस्त्र तक के लिए मुहताज कर दिया था। उपनिवेशवाद से संघर्ष की प्रक्रिया में भारत एक राष्ट्र के रूप में विकसित हुआ जिसने देश के नागरिकों को नया जीवन दिया। राष्ट्र की इस ऐतिहासिक भूमिका के प्रति दिनकर अपनी कृतज्ञता इन शब्दों में प्रकट करते हैं।

क्या कह जोड़ें हाथ? चतुर्दिक भूमंडल पर,
तुमने आर्त्त जनों को जीवन-दान दिया है,
रोटी दी, गृह-वसन दिये, पर, सबसे बढ़कर,
मस्तक में गौरव, मन में अभिमान दिया है।[29]

भारत की आजादी को लेकर दिनकर की उम्मीदों और आकांक्षाओं का अनुमान उपरोक्त कविताओं से लगाया जा सकता है। इन उम्मीदों से पैदा हुई चुनौतियां दिनकर की कविताओं में राष्ट्रीय गौरव का एक दूसरा पक्ष भी सामने रखती हैं। यह दूसरा पक्ष गैर-बराबरी को खत्म कर सद्भावनापूर्ण समाज बनाने के सपने को साकार करने का आग्रह करता है और यह चेतावनी भी देता है कि गौरव कोई स्थायी रहने वाली चीज नहीं है। स्वतंत्रता के विभिन्न पक्षों और उसके निहितार्थों की चर्चा करने वाली अपनी कविता 'रोटी और स्वाधीनता' में वे कहते हैं

आजादी तो मिल गई, मगर, यह गौरव कहां जुगाएगा?
मरभुखे! इसे घबराहट में तूं बेच न तो खा जाएगा?
आजादी रोटी नहीं, मगर, दोनों में कोई वैर नहीं,
पर, कहीं भूख बेताब हुई तो आजादी की खैर नहीं।[30]

आजादी की खुशी के साथ-साथ भारत को विभाजन का दुख भी झेलना पड़ा। साम्प्रदायिक दंगों ने इस विभाजन को और भी त्रासद बना दिया था। आजादी के बाद बने भारतीय संविधान की उद्देशिका में भारत को न्याय, समानता, समता और बंधुत्व पर आधारित 'एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसंपन्न समाजवादी पंथ निरपेक्ष लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने' का संकल्प लिया गया। भारत के बुद्धिजीवियों, सुधारकों और राजनीतिज्ञों ने मिलकर स्वतंत्र भारत की अखंडता के लिए निरंतर प्रयास किया, इस यत्न के बावजूद अलगाववादी शक्तियां हमारी एकता को तोड़ने का प्रयास करती रहीं। विभाजन के बाद भारत एक राष्ट्र तो बना, लेकिन अलगाववादी शक्तियों ने एकता और बंधुत्व पर आधारित राष्ट्र की एक धारणा विकसित होने में हमेशा बाधा पहुंचाई। राष्ट्रीय गौरव से संबंधित दिनकर की कविताओं का तीसरा पक्ष एकजुटता को तोड़ने वाली इन शक्तियों की चर्चा करता है। 'राष्ट्र-देवता का विसर्जन' शीर्षक कविता में राष्ट्र को संबोधित करते हुए दिनकर लिखते हैं

जनता है सब ओर यही अभिमान मनुज का,
जग में है जो दाह, इसी गौरव का फल है,
राष्ट्रदेव! वह भी लेता है नाम तुम्हारा,
खींच रहा जो शान्ति-सुन्दरी का अंचल है।[31]

दिनकर एकता और अखंडता पर आधारित लोकतंत्र के पक्षधर थे। जाति, सम्प्रदाय और क्षेत्र पर आधारित अलग-अलग राष्ट्र की धारणा के पक्षधर वे कभी नहीं रहे। उनका मानना था कि भारत में विभिन्न संस्कृतियां आकर घुल-मिल गई हैं जो आपसी एकता के सूत्र गढ़ती हैं और एक राष्ट्र के तौर पर हमारी एकजुटता को संभव बनाती हैं। साम्प्रदायिक प्रवृत्ति और विभाजन ने भारतीय जनमानस में जो क्षोभ और तनाव पैदा किया संवेदनात्मक प्रयास उससे उबरने के सबसे अच्छे माध्यम थे। शान्ति, प्रेम और एकता को राष्ट्रीय गौरव के तौर पर प्रतिष्ठित करते हुए यथार्थ की समस्याओं से परिचित कराने की दिनकर की कोशिश उसी संवेदनात्मक प्रयास का ही अंग है।

क्रांति और स्वतंत्रता : चुनाव का प्रश्न

बीसवीं सदी के तीसरे दशक में जब राजनीति में गांधी और समाज में अहिंसा की प्रतिष्ठा हो रही थी, उसी समय बलिदान की भावना लिए भगतसिंह और उनके साथियों ने भारतीय जनता में क्रांति का एक नया स्वप्न पैदा किया। औपनिवेशिक दमन को झेल रही जनता के आक्रोश का प्रतिनिधित्व राजनीति में इन क्रांतिकारियों ने किया और कविताओं में दिनकर ने। डा. राम निवास चतुर्वेदी ने लिखा है

> अंग्रेजी शासकों के दमनचक्र ने भारतीय जनजीवन को त्रस्त कर दिया था। आबाल-वृद्ध, नर-नारी सभी का हृदय क्रन्दन कर रहा था। धधकता-जन-मानस कोई भी बलिदान देने के लिए तैयार था। तेजपुंज दिनकर का हृदय भी पराधीनता के कलंक को मिटाने के लिए कटिबद्ध हो उठा। वह पराधीनता के अभिशाप के विरोध में स्वर हुंकृत करने लगा। जलियांवाला बाग का हृदय विदारक दृश्य उसे स्मरण था, वह उसे नहीं भूला था।[32]

लेखन की दुनिया में प्रवेश करते ही दिनकर का विद्रोही स्वर उनकी कविताओं में प्रकट होने लगा। उस आक्रोश को स्वर देते हुए दिनकर ने 'प्रणभंग' में लिखा कि

> प्रतिहिंसा का भाव फूंकता है अम्बर में आग।
> अरे, याद है हमें आज भी जलियांवाला बाग।[33]

दिनकर के समकालीन कवियों में आक्रोश का यही स्वर नहीं दिखाई देता। डा.गोपाल राय ने प्रणभंग की समीक्षा करते हुए पराधीनता के प्रति दिनकर की विद्रोही चेतना को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि दिनकर में ''पराधीनता के प्रति विद्रोह की प्रखर चेतना शुरू से ही विद्यमान थी और आरंभ में गांधी जी ने उन्हें उतना प्रभावित नहीं किया जितना प्राणों को हथेली पर लेकर चलने वाले क्रांतिकारियों ने। इसी कारण दिनकर ने अपने युग की काव्य प्रवृत्ति की उपेक्षा कर पौरूष के दर्प-गान को अधिक महत्व दिया। 'प्रणभंग' में यह प्रवृत्ति बहुत साफ दिखाई पड़ती है।''[34] भारत की स्वतंत्रता का सवाल किसी व्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रश्न नहीं था जो किसी उपाय के जरिये चुपचाप बंदीगृह से निकल जाता। सवाल था देश की शासन व्यवस्था को भारतीय हाथों में सौंपकर अंग्रेजों के जाने का। भारत जैसे विस्तृत देश जिसकी संभावनाएं निःशेष नहीं हुई थीं और श्रम तथा संसाधनों का दोहन जारी था, उसे

ब्रिटिश सरकार क्योंकर छोड़ देती? 'पौरुष के दर्प-गान' का सीधा संबंध क्रांतिकारियों से जरूर था किन्तु औपनिवेशिक दमन के आगे टिकने के लिए अहिंसावादियों को भी साहस की उतनी ही आवश्यकता थी। आजादी के लिए एकजुट विरोध की निरंतरता अनिवार्य थी और दिनकर जानते थे कि अगुवाई करने वालों को इसकी कीमत भी चुकानी पड़ेगी, इसकी जमीन तैयार करते हुए वे पूछते हैं

समय मांगता मूल्य मुक्ति का, देगा कौन मांस की बोटी?
पर्वत पर आदर्श मिलेगा, खाएं चलो घास की रोटी।[35]

इस प्रसंग में एक महत्वपूर्ण प्रश्न आजादी के स्वरूप का भी है। भगतसिंह ने कहा था कि 'मुझे कोई शंका नहीं है कि मेरा मुल्क एक दिन आजाद हो जाएगा, पर मुझे डर है कि गोरे साहब जिन कुर्सियों को छोड़कर जाएंगे, उन पर भूरे साहबों का कब्जा हो जाएगा'। क्या उपनिवेश विरोध की दूसरी धाराएं भी आजादी को इसी रूप में देख रही थीं? भगतसिंह और उनके साथियों के लिए आजादी का अर्थ सत्ता हंस्तातरण की प्रक्रिया भर नहीं था। वे साम्राज्यवाद के साथ-साथ सामंतवाद को भी खत्म करने वाली क्रांति का सपना देख रहे थे। उनकी चुनौती सत्ता के स्वरूप को भी बदलने की थी। पराधीनता को दिनकर ने देश का रुधिर पीने और मानवता को चबाने वाली शक्ति के रूप में देखा था 'यह है परतंत्रता देश की/ रुधिर देश का पीने वाली/ मानवता कहता तू जिसको/ उसे चबाकर जीने वाली।'[36] मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए तत्कालीन स्थितियों में दिनकर अहिंसा को अपर्याप्त मानते रहे और इसीलिए वे शौर्य और बलिदान का आह्वान करते रहे

आगे आओ वीर जवान!/ दिशा तप्त हो लरज रही है
घटा क्रोध से गरज रही है/ उठा चाहता है तूफान
आओ आओ वीर जवान![37]

दिनकर का रचना संसार बलिदान के आह्वान से भरा पड़ा है। विरोध के विभिन्न तरीकों तथा आन्दोलनों में जनता की भागीदारी और विश्वास के लिए शौर्य और त्याग की जिस भावना की आवश्यकता थी, दिनकर की कविताएं उसे ही बल देती हैं। जनता पर किसी साहित्य के प्रभाव को आंकड़ों के धरातल पर जानना संभव नहीं है किन्तु इसमें संदेह नहीं कि शोषण के व्यापक विरोध तथा प्रबल विद्रोह की संभावनाओं ने ही ब्रिटिश सरकार को घुटने

टेकने पर मजबूर किया। जनता की सक्रिय भागीदारी ने आजादी को सुनिश्चित किया और दिनकर के हवाले से कहा जा सकता है कि जनता को प्रेरित करने में साहित्य की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी। बहरहाल, राष्ट्रीय आन्दोलन के जरिये प्राप्त हुई स्वतंत्रता और भगतसिंह के सपनों की आजादी के बीच बुनियादी भेद थे। ऐसे में हमारे सामने यह सवाल भी है कि दिनकर की कविताओं में दिखने वाली शौर्य और बलिदान की मांग स्वतंत्रता के किस रूप की आकांक्षी थी? दिनकर की उन भावनाओं को किस रूप में देखा जाए? यह भी नहीं भूला जाना चाहिए कि दिनकर ने जहां आजादी के बाद स्वंतत्रता का यश गाया, वहीं भारत-चीन युद्ध के दौरान वे दुबारा स्वतंत्रता पर संकट की बात करने लगे।

गरजो, अम्बर को भरो रणोच्चारों से/ क्रोधान्ध रोर, हांकों से, हुंकारों से।
यह आग मात्र सीमा की नहीं लपट है/ मूढ़ों! स्वतंत्रता पर ही यह संकट है।[38]

महत्वपूर्ण यह है कि आजादी से पहले लिखी गई कविताओं में दिनकर के जिस स्वर से हम पूर्व-परिचित हैं, शौर्य और उत्सर्ग का ठीक वही ओजस्वी स्वर 'परशुराम की प्रतीक्षा' में भी दिखाई देता है। इस स्वर की वापसी दिनकर के स्वतंत्रता संबंधी दृष्टिकोण को गहराई से समझने की मांग करती है। आजादी से पहले प्रकाशित 'हुंकार' संग्रह की कविता 'चाह एक' में दिनकर ने लिखा

स्वातंत्र्य, पूजता मैं न तुझे इसलिए कि तूं सुख-शान्ति-रूप,
हां, उसे पूजता, जो चलता तेरे आगे नित क्रांति रूप।[39]

उपरोक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि स्वतंत्रता और क्रांति दिनकर की दृष्टि में दो भिन्न-भिन्न चीजें थीं, जहां स्वतंत्रता उपनिवेशवाद अथवा साम्राज्यवाद से मुक्ति थी, वहीं क्रांति स्वतंत्रता में निहित परिवर्तनकामी वह संभावना थी जो सामंतवाद को खत्म कर वंचित जनता को उसका हक वापस लौटाती। दूसरे शब्दों में कहें तो वह गोरे साहबों को हटाकर खाली कुर्सियों पर जनता को बैठाती, भूरे साहबों को नहीं। याद करें तो दिनकर ने जनता के लिए सिंहासन खाली करने का आह्वान भी किया था। संदेह नहीं कि शौर्य और बलिदान के ओज से भरी दिनकर की कविताएं क्रांति की आकांक्षी थीं और उन्हीं स्वप्नों पर टिकी थी जिसे भगतसिंह और उनके साथी देख रहे थे, इसीलिए संघर्ष और विद्रोह का जज्बा भी इन

कविताओं में वही है, लेकिन फिर आजादी के बाद से भारत-चीन युद्ध तक विद्रोह का वह जज्बा इन कविताओं क्यों नहीं दिखाई देता?

उस जज्बे के न दिखने के पीछे एक स्पष्ट वजह तो यह कि स्वतंत्रता दिनकर की प्राथमिकता थी। वे स्वतंत्रता के लिए हिंसा-अहिंसा, पाप-पुण्य किसी भी स्थिति को स्वीकार करने को तैयार थे, लेकिन इस प्राथमिकता की हद यह थी कि स्वतंत्रता के आगे वे समानता को भी गौण मानते थे। समानता को स्वतंत्रता से ऊपर रखने के लिए उन्होंने 'दिल्ली' कविता में भारतीय वामपंथियों की आलोचना भी की थी।

उक्त विद्रोही स्वर के लुप्त होने की दूसरी वजह थी आजादी के आसपास का घटनाक्रम। हिंसक विद्रोह का पक्ष लेने वाले दिनकर को आजादी के आखिरी वर्षों में साम्प्रदायिकता का जो रूप दिखा, उसने स्पष्ट कर दिया कि हिंसा से परहेज न करने वाले समुदाय में अमानवीय हो जाने की कितनी अधिक संभावनाएं होती हैं। आश्चर्यजनक नहीं कि इस स्थिति ने दिनकर के मन में हिंसा के प्रति ठीक वैसा ही वैराग्य पैदा हुआ जैसा अशोक के मन में खुद उन्होंने महसूस किया था। गांधी की हत्या पर दिनकर हिन्दू द्वारा कत्ल किये जाने पर इसलिए ही बार-बार क्षुब्ध होते हैं। संयोग से आजादी के बाद बनने वाली सरकार भी इसी रूप की पक्षधर थी। हिंसा के प्रति इस वितृष्णा और लोकतंत्र में आस्था ने दिनकर को शान्तिपूर्ण क्रांति का पक्षधर बनाया।

बहरहाल, संदेह नहीं कि दिनकर की कविताओं का तेज क्रांति की भावना से ही पैदा हुआ था। राष्ट्रीय आन्दोलन की जरूरतों ने इस तेज को उनकी कविताओं का स्वभाव बना दिया, इसीलिए स्वतंत्रता की चाह भी उनकी कविताओं में ओज का रूप ले लेती है। स्वतंत्रता को प्राथमिकता देने वाले कवि के लिए यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि भारत-चीन युद्ध से पैदा हुए संकट पर वह उसी चिर-परिचित स्वर के साथ जनता के सामने जाता। यही न होता तो दिनकर राष्ट्रीय काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि कहलाते ही क्यों?

दिनकर का राष्ट्रवाद

सामंती राज्यों को आधुनिक राष्ट्र-राज्य में बदलने तथा उपनिवेश रह चुके राष्ट्रों के मुक्ति संग्राम में राष्ट्रवाद की बहुत सकारात्मक भूमिका रही है। इतना होने पर भी दिनकर को सरल सपाट ढंग से राष्ट्रवादी कह देने में असुविधा महसूस होती है। इसकी वजह केवल यह नहीं कि राष्ट्रवाद की एकाधिक श्रेणियां है। आर्थिक राष्ट्रवाद के साथ-साथ धार्मिक राष्ट्रवाद भी रहे हैं जो आगे चलकर राष्ट्रों के लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया में बाधक तत्व के रूप में सामने आए हैं। इसलिए अगर दिनकर को राष्ट्रवादी कहना हो तो भी यह निश्चित करना जरूरी होगा कि उनका राष्ट्रवाद किस किस्म का है दिनकर को राष्ट्रवादी करने के रास्ते में दूसरी बड़ी समस्या यह है कि क्षेत्र जाति और धर्म जैसी संकुचित सीमाओं के सामने राष्ट्रवाद एक आकर्षक विचार लगता है, लेकिन जब उसके सामने अंतर्राष्ट्रीयता और मानवतावाद जैसी व्यापक श्रेणियां खड़ी हों तब राष्ट्रवाद का यही आकर्षक विचार संकीर्ण नजर आने लगता है। दिनकर के प्रसंग में एक और बड़ी मुश्किल यह है कि चार दशकों से अधिक लंबी काव्ययात्रा के दौरान उनके विचारों में निरंतरता नहीं रही है। उन्होंने आक्रामक राष्ट्रवाद के गीत भी गाए हैं, तो शत्रुओं के प्रति प्रेम और करुणा दर्शाने वाली भावनाएं भी उनके काव्य में बड़ी प्रबलता से व्यक्त हुई हैं। दूसरे शब्दों में उनके काव्य में मार्क्सवाद और गांधीवाद के बीच निरंतर आवाजाही मौजूद रही है। राष्ट्रवाद, लोकतंत्र और हिंसा के प्रश्न पर हम अन्यत्र विचार करेंगे, फिलहाल दिनकर के काव्य में मौजूद इस द्वंद्व की पृष्ठभूमि को समझना उपयोगी होगा।

औपनिवेशिक दौर में क्रांतिकारियों के वैचारिक विकास की समीक्षा करते हुए इतिहासकार बिपन चंद्र ने इस बात को नोट किया है कि आगे चलकर क्रांतिकारी गतिविधियों में लिप्त होने वाले युवक भी कांग्रेस और गांधी के असहयोग आंदोलन के उत्पाद थे। उन्होंने लिखा है कि

> नए क्रांतिकारी आंदोलन के करीब-करीब सभी महत्वपूर्ण सदस्य असहयोग आंदोलन में सक्रिय रुप से भाग ले चुके थे और गांधी जी द्वारा एक वर्ष के अंदर स्वतंत्रता प्राप्त करने के वायदे ने जो आशाएं लगाई थी और जिसके कारण अभूतपूर्व लहर उठी थी, उनसे उत्पन्न प्रचंड उत्साह में भी वे बराबर के शरीक थे। उदाहरण के लिए, जोगेश चंद्र चटर्जी, चंद्रशेखर आजाद, भगतसिंह, सुखदेव, जतिनदास, भगवतीचरण बोहरा, यशपाल, शिववर्मा, डॉ.गया प्रसाद और जयदेव कपूर ने

> अहिंसक सत्याग्रह में भाग लिया। परंतु असहयोग आंदोलन की असफलता ने सभी आशाओं पर पानी फेर दिया।... गांधीवाद को छोड़कर वे नए विकल्पों की खोज करने लगे। यह खोज उन्हें एक ओर तो समाजवाद और दूसरी ओर क्रांतिकारी आतंकवाद की ओर ले गई। उन्होंने दोनों को अपनाया, जैसाकि आधी सदी पहले क्रांतिकारी रूसी युवाओं ने किया था।[40]

गांधीवाद से क्रांतिकारी नवयुवकों के मोहभंग का बिपन चंद्र का विश्लेषण बिल्कुल सही है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं लगाया जाना चाहिए कि इसने पूरे देश की जनता को गांधी से विमुख कर दिया। अगर ऐसा होता तो राष्ट्रीय आंदोलन के अंतिम दौर तक गांधी महानायक कैसे बने रह सकते थे? असल में राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान कांग्रेस के साथ-साथ कई अन्य अंतर्धाराएं सक्रिय थीं और देश में बड़ी संख्या ऐसे लोगों की थी जो राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल विभिन्न समूहों को देशभक्त मानते हुए उन सभी के प्रति श्रद्धा रखती थी। ऐसे लोगों के लिए समय विशेष पर किसी खास मुद्दे पर एक विचारधारा के प्रति संपूर्ण समर्थन का भाव प्रकट करना और किसी दूसरे अवसर पर उसके प्रति विरोध जताना स्वाभाविक ही था। दिनकर के प्रसंग में भी यही बात सच है। अपनी काव्ययात्रा के आरंभिक दौर से ही वे कांग्रेसियों, सोशलिस्टों और कम्युनिस्टों के संपर्क में रहे थे। यह संपर्क परवर्ती दौर में भी बने रहे। स्वाभाविक है कि दिनकर की लंबी रचना-यात्रा में अलग-अलग अवसरों पर इन सभी के साथ संवाद और विवाद का रिश्ता दिखाई देता है। राष्ट्रवाद के प्रसंग में भी दिनकर के भिन्न-भिन्न विचारों का स्रोत यही है।

राजनैतिक पार्टियों और विचारधाराओं की दृढ़ खांचेबंदियों के कारण आज जो दिशाएं हमें विपरीत सी लगती हैं और हैरानी पैदा करती हैं वह शायद उस दौर के लोगों के लिए उतनी हैरतअंगेज नहीं थी। दिनकर की आरंभिक रचनाओं में भी इन विपरीत दिशाओं में आवाजाही के पर्याप्त संकेत मौजूद हैं। दिनकर के पहले संग्रह 'विजय संदेश' में संकलित 'बारदोली वंदना' शीर्षक रचना में एक ओर दुर्दमनीय दुर्गा की वंदना की गई है, तो उसी कविता में बारदोली सत्याग्रह के वीरों की जयकार भी की गई है।[41] जबकि यह एक गांधीवादी आंदोलन था। 'रेणुका' में इस आवाजाही के उदाहरण और प्रत्यक्ष हैं। इसमें एक तरफ गांधी के अछूतोद्धार आंदोलन का समर्थन करने वाली कविता 'बोधिसत्व' है तो वहीं प्रलय की कामना से ओत-प्रोत 'तांडव' शीर्षक कविता भी है। इस पूरे प्रसंग में जो बात समझने की है

वह यह कि दिनकर के लिए किसी एक सिद्धांत को पकड़ कर बैठे रहने से ज्यादा जरूरी था अवसर अनुकूल सही नीति पर चलना। दिनकर ने अहिंसा को परम मूल्य घोषित करने वाली कविताएं भी लिखी हैं और स्वयं क्रांति का आह्वान भी किया है, लेकिन इन दो परस्पर विरोधी मूल्यों को जोड़ने वाली संभवत पहली स्पष्ट अभिव्यक्ति 'मगध महिमा' शीर्षक कविता में मिलती है। दिनकर के प्रिय नायकों में से एक चंद्रगुप्त पराजित सेल्यूकस को संबोधित करते हुए अपनी जो नीति घोषित करता है, वह ऐतिहासिक चंद्रगुप्त पर लागू होती है या नहीं कहना मुश्किल है, लेकिन यह बात दावे के साथ कहीं जा सकती है कि तत्कालीन वर्तमान पर जरूर लागू होती थी।

छिन्न-भिन्न है, देश, शक्ति भारत की बिखर गई है;
हम तो केवल चाह रहे हैं उसको एक बनाना
मृदु विवेक से, बुद्धि-विनय से, स्नेहमई वाणी से,
अगर नहीं, तो धनुष-बाण से, पौरूष से, बल से भी।[42]

असल में हम जिन्हें परस्पर विरोधी मूल्यों के रूप में देख रहे हैं वह मूल्यों का विरोध नहीं, बल्कि उनका वरीयता क्रम है। असल चीज है लक्ष्य। इस लक्ष्य की प्राप्ति अगर विनम्रतापूर्वक प्रेम से हो सकती है, अहिंसा से हो सकती है तो सर्वश्रेष्ठ है अन्यथा अपरिहार्य होने पर लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हिंसा भी श्रेयस्कर है। चाणक्य चंद्रगुप्त के गुरु हैं। उनके कथन से भी इसी नीति की पुष्टि होती है। 'आग के साथ आग बन मिलो/ और पानी से बन पानी/ गरल का उत्तर है प्रतिगरल/ यही कहते जग के ज्ञानी।[43] दिनकर का राष्ट्रवाद भी जैसे को तैसा की इसी नीति पर विश्वास करता है। जैसे को तैसा की यह नीति पहलकदमी की नीति नहीं होती इसीलिए वह आक्रमण की नीति भी नहीं होती। 'मगध महिमा' में चंद्रगुप्त चाणक्य और सारे सभासद इस बात पर एकमत हैं कि हम किसी दूसरे को दास नहीं बनाना चाहते, शांति पूर्वक अपने देश की सीमाओं में रहना चाहते हैं; लेकिन अगर किसी ने आक्रमण किया या संधि का उल्लंघन किया तो उसका जवाब मगध के बलशाली खड्ग से दिया जाएगा। एक ताकतवर सेना की आवश्यकता इस लिहाज से दिनकर के राष्ट्रवाद का अभिन्न अंग है।[44] स्वतंत्र भारत की 'सेना का प्रयाण गीत' लिखते हुए भी दिनकर इस बात को दोहराते हैं।

स्वाधीन भारत में वह एक ऐसी सेना की कल्पना करते हैं जिसमें शक्ति और कोमलता दोनों का मिश्रण होगा। इस सेना का संकल्प है कि

हिंद-सिंधु की कसम, कौन/ इस पर जहाज ला सकता है।
सरहद के भीतर कोई/ दुश्मन कैसे आ सकता है?
पर की हम कुछ नहीं चाहते/ अपनी किंतु, बचाएंगे
जिसकी उंगली उठी/ उसे हम यमपुर को पहुंचाएंगे
हम प्रहरी यमराज-समान/ जियो जियो अय हिंदुस्तान।[45]

असल में शांतिपूर्ण योद्धा की छवि दिनकर की प्रिय छवि है और राष्ट्र को भी वह इसी रूप में देखने के इच्छुक हैं। शांतिपूर्ण ढंग से रहना इस राष्ट्रवाद की कामना है, लेकिन यह कामना फलीभूत हो सके इसके लिए शत्रुओं के मन में अपनी शक्ति का आतंक होना जरूरी है। केवल शक्तिशाली के मुंह से ही प्रेम विनय और क्षमा की बातें शोभा देती हैं, यह वीरों का भूषण है कायरों का नहीं। इस भावना की सबसे प्रभावशाली अभिव्यक्ति कुरुक्षेत्र की इन प्रसिद्ध पंक्तियों में हुई है 'क्षमा शोभती उस भुजंग को/ जिसके पास गरल हो/ उसको क्या, जो दंतहीन/ विषरहित, विनीत, सरल हो?'[46]

दिनकर के काव्य में विभिन्न लोकतांत्रिक मूल्यों को अभिव्यक्ति मिली है। खासकर समानता पर उनके आग्रह से हम सभी वाकिफ हैं, लेकिन इसके साथ ही यह भी याद रखा जाना चाहिए कि जहां स्वतंत्रता और समानता दोनों में से किसी एक को चुनने का प्रश्न हो वे निर्द्वंद्व भाव से राष्ट्र की स्वतंत्रता को प्राथमिकता देते हैं। अगर राष्ट्र ही स्वाधीन नहीं होगा तो, न तो व्यक्तियों की स्वाधीनता सुनिश्चित की जा सकेगी और न ही समानता स्थापित की जा सकती है। भारतीय आंदोलनकारियों के सामने द्वितीय विश्वयुद्ध के समय ऐसी दुविधा भरी स्थिति उत्पन्न हो गई जब कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो आंदोलन' छेड़ दिया। ऐसे में एक तरफ ब्रिटेन और रूस समेत मित्र-राष्ट्र फांसीवाद से युद्ध कर रहे थे, जिसमें भारत से सहयोग की अपेक्षा की जा रही थी; वहीं दूसरी तरफ देश के अंदर उपनिवेशवाद से निर्णायक लड़ाई लड़ी जा रही थी। अतः ब्रिटेन के साथ किसी भी तरह के सहयोग से इनकार करना था इस दुविधाग्रस्त स्थिति में कम्युनिस्टों ने रूस के प्रति अपनी आस्था के कारण ब्रिटेन को सहयोग करना उचित समझा और यह आश्वासन दिया की विश्वयुद्ध में रूस की विजय का लाभ

भारत में साम्यवादी क्रांति के रूप में मिल सकता है। दूसरी ओर राष्ट्रवादी आंदोलनकारियों ने स्वाधीनता को प्राथमिकता दी। दिनकर का स्पष्ट मत था कि बिना स्वाधीन हुए समानता नहीं लाई जा सकती। साम्यवादियों की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा

एक देश है जहां विषमता/ से अच्छी हो रही गुलामी,
जहां मनुज पहले स्वतंत्रता/ से हो रहा साम्य का कामी।
भ्रमित ज्ञान से जहां जांच हो/ रही दीप्त स्वातंत्र्य-समर की,
जहां मनुज है पूज रहा जग को/ बिसार सुधि अपने घर की।[47]

दिनकर के राष्ट्रवाद के प्रसंग में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि अपनी राष्ट्रीय कविताओं में वह अक्सर सांस्कृतिक (ऐतिहासिक-पौराणिक) प्रतीकों का इस्तेमाल करते हैं। उनका राष्ट्रवाद परंपरा से विचलित नहीं है। राम, कृष्ण, शिव, विष्णु, दुर्गा इत्यादि देवी-देवताओं; भीष्म, युधिष्ठिर, पांडव, परशुराम इत्यादि पौराणिक नायकों और चंद्रगुप्त से लेकर निकट अतीत के ऐतिहासिक नायकों का जिक्र उनकी राष्ट्रीय कविताओं में बार-बार आता है। इस लिहाज से देखें तो संस्कृति उनके राष्ट्रवाद का एक अनिवार्य तत्व है। लेकिन उनके राष्ट्रवाद को 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' कदापि नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस पद का वास्तविक आशय हिंदू राष्ट्रवाद है, जबकि सामासिक संस्कृति पर दिनकर के जोर से हम सभी वाकिफ हैं। दिनकर जिन सांस्कृतिक प्रतीकों का इस्तेमाल करते हैं उनमें हिंदू, बौद्ध, ईसाइयत, इस्लाम इत्यादि विभिन्न धर्मों से जुड़े हुए प्रतीक आते हैं। जहां उनकी कविताओं में बाबर, औरंगजेब से लेकर अशफाक उल्ला और उस्मान तक सकारात्मक पात्रों के रूप में आए हैं, वहीं हिंदुओं की धार्मिक रूढ़ियों की भी उन्होंने तीखी आलोचना की है। हिंदू सांस्कृतिक प्रतीकों का इस्तेमाल करते समय भी वह इस बात के लिए सचेत रहते हैं कि उसमे कहीं इस्लाम विरोध का प्रभाव न आ सके। वह भारत की एकता के लिए चंद्रगुप्त के प्रयासों की प्रशंसा तो करते हैं, लेकिन आर्यावर्त की स्थापना का उसका संकल्प दिनकर की कविता में अपनी जगह नहीं बना पाता। इस लिहाज से जयशंकर प्रसाद के चंद्रगुप्त से उसकी तुलना की जा सकती है जिसमें यवनो के विरोध और वर्णाश्रम के समर्थन के भाव बहुत खुलकर अभिव्यक्त हुए हैं। यही बात राणाप्रताप और शिवाजी के प्रसंग में भी कही जा सकती है।

सामासिक संस्कृति में आस्था रखने के चलते दिनकर ने संस्कृति में हिंदू-मुसलमान का भेद नहीं किया। भारतीय संस्कृति में उन्हें जो कुछ भी श्रेष्ठ लगा उसे उन्होंने विरासत के तौर पर ग्रहण किया। 'परंपरा' शीर्षक कविता में बड़ी संवेदनशीलता के साथ परंपरा के महत्व को बताते हुए उन्होंने उसके धर्मनिरपेक्ष सामाजिक स्वभाव का संकेत किया है।

परंपरा जब लुप्त होती है/ लोगों की आस्था के आधार/ टूट जाते हैं
उखड़े हुए पेड़ों के समान/ वह अपनी जड़ों से छूट जाते हैं
*** *** ***
और यह बात याद रहे/ कि परंपरा चीनी नहीं, मधु है।
वह न तो हिंदू है, न मुस्लिम है/ न द्रविड़ है, न आर्य है,
न परंपरा का हर प्रहरी/ पुरी का शंकराचार्य है।[48]

परंपरा के प्रति अपनी इसी व्यापक और उदार दृष्टि के कारण उन्होंने संस्कृति के अलावा हिंदी-उर्दू और बांग्ला कविता का गहरा अध्ययन किया और उससे प्रभावित हुए। जिन आधुनिक कवियों से दिनकर ने प्रेरणा ग्रहण की उनमें मैथिलीशरण गुप्त और रवींद्रनाथ टैगोर के अलावा इकबाल, नजरुल इस्लाम और जोश मलीहाबादी के नाम शामिल हैं। अपने ऊपर पड़े प्रभाव का जिक्र करते हुए दिनकर ने कहा है कि 'मैं जवानी भर इकबाल और रवींद्र के बीच झटके खाता रहा'। बात सिर्फ इतनी नहीं है कि दिनकर का राष्ट्रवाद धार्मिक नहीं था, इसके उलट वे धार्मिक राष्ट्रवाद के प्रबल विरोधी थे। इस धार्मिक राष्ट्रवाद की परिणति देश के बंटवारे के रूप में हुई जिसका दिनकर ने लगातार विरोध किया था। एक अखंड धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र पर उनकी आस्था का प्रमाण यह है कि बंटवारा हो जाने के बाद भी वे यह उम्मीद करते रहे ये दोनों देश फिर से एक हो जाएंगे। आजादी को एक जिम्मेदारी भरी चुनौती मानते हुए उन्होंने लिखा है

मां का आंचल है फटा हुआ/ इन दो टुकड़ों को सीना है
देखें, देता है कौन लहू/ दे सकता कौन पसीना है?[49]

मनुष्य मात्र की समानता पर विश्वास के कारण दिनकर जिस राष्ट्र की कल्पना करते हैं वह धर्मनिरपेक्ष भी है और लोकतांत्रिक भी। भारत ने स्वाधीनता के बाद प्रातिनिधिक लोकतंत्र को स्वीकार किया। इस प्रातिनिधिक लोकतंत्र की सीमाओं का अनुमान आरंभ में

बिल्कुल नहीं था दिनकर जिस लोकतंत्र की कल्पना करते हैं उसकी विस्तृत चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे यहां सिर्फ इतना बताना जरुरी है कि दिनकर एक ऐसे भारत की कल्पना करते हैं जिसमें वास्तविक लोकतंत्र हो। 'जनतंत्र का जन्म' शीर्षक कविता में तैंतीस करोड़ लोगों को सिंहासन पर बैठाने की कामना व्यक्त की गई है। इसका अर्थ केवल सार्विक मताधिकार तक सीमित नहीं है दिनकर की दृष्टि में जनता में ही संपूर्ण सत्ता निहित है। 'कुरुक्षेत्र' में उन्होंने राजतंत्रहीन समाज की कल्पना प्रस्तुत की थी।

दिनकर का राष्ट्रवाद भारत की बहुत विराट कल्पना प्रस्तुत करता है। 'किसको नमन करूं' और 'हिमालय का संदेश' शीर्षक कविता में इस कल्पना को आकार मिला है। दिनकर के लिए भारत कोई क्षेत्र मात्र नहीं है, वह कुछ मूल्यों का वाचक है। वहां न केवल अखंडता है, बल्कि सभी में प्रेम भी है। भिन्नताओं में एकता है। 'भारत वहां, जहां जीवन साधना नहीं है भ्रम में/ धाराओं को समाधान है मिला हुआ संगम में।'[50]

दिनकर की कल्पना का भारत समाजवादी भारत है। जिसमें समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व अपने वास्तविक अर्थ में राष्ट्र के सभी नागरिकों को सुलभ होंगे। दिनकर की दृष्टि में स्वतंत्रता का अर्थ केवल सरकार बनाने या उसे बदलने तक सीमित नहीं है। उसमें हर नागरिक को मनोनुकूल ढंग से जीने सोचने और बोलने का हक शामिल है।[51] दिनकर के लिए समानता का अर्थ केवल कानूनी समानता नहीं, बल्कि उसका विस्तार आर्थिक समानता तक है। इस समानता की स्थापना के लिए वह बल प्रयोग को भी उचित मानते हैं। आजादी के पहले 'कुरुक्षेत्र' में तथा आजादी के बाद 'परशुराम की प्रतीक्षा' में उन्होंने लगभग एक से मुहावरे में बलपूर्वक समानता स्थापित करने का आह्वान किया है।

> सबसे पहले यह दुरित-मूल काटो रे!/ समतल पीटो, खाइयां-खड्ड पाटो रे!
> बहुपाद वटों की शिरा-सोर छांटो रे!/ जो मिले अमृत, सबको समान बांटो रे![52]

संभवतः इस आह्वान की व्यावहारिकता से दिनकर भी वाकिफ थे इसीलिए इसी कविता में वह धनकुबेरों से निवेदन करते हैं कि अगर वह इस संकट की घड़ी पर राष्ट्र को सहयोग देंगे तो सुरक्षा के साथ-साथ सुयश भी प्राप्त करेंगे। भूदान के अवसर पर लिखी गई कविताओं में भी इसी तरह का स्वर मिलता है। इन कविताओं में भूस्वामियों को क्रांति का

भय दिखाते हुए उनसे जमीन देने की प्रार्थना की गई है। बहरहाल, समानता स्थापित करने के तरीकों की बात को अगर थोड़ी देर के लिए छोड़ दें तो यह स्पष्ट है कि समानता का लक्ष्य हर हाल में बराबरी रहा है।

दिनकर की कविताओं में राष्ट्रवाद के दो रूप देखने को मिलते हैं। एक रूप संकट के समय का उग्र राष्ट्रवाद है और दूसरा शांति काल का उदात्त राष्ट्रवाद। उग्र राष्ट्रवाद वाली कविताओं में राष्ट्रहित सर्वोपरि है और जहां राष्ट्रहित का सवाल है वहां दिनकर के लिए नागरिक अधिकारों का प्रश्न गौण हो जाता है। ऐसे अवसरों पर दिनकर सरकार का पूर्ण समर्थन करने और उसे सहयोग देने की अपेक्षा करते हैं। इस उग्र राष्ट्रवाद की सबसे प्रबल अभिव्यक्ति 'परशुराम की प्रतीक्षा' में हुई है, लेकिन उसके अलावा अन्यत्र भी इस भाव की छिटपुट अभिव्यक्तियां दिनकर के काव्य में आसानी से मिल जाती हैं। 'हुंकार' की कई कविताओं में यही उग्र राष्ट्रवाद मौजूद है। इन्हीं कविताओं से दिनकर को पहचान मिली थी आजादी के आरंभिक वर्षों में भी इस तरह की कुछ कविताएं दिनकर ने लिखी हैं। 'स्वर्ग के दीपक' शीर्षक कविता में उच्चकुल के उन अभिमानियों को चेतावनी दी गई है जो अपने आपको सरकार से ऊपर समझते हैं, कतार में चलने से इंकार करते हैं। इस कविता में दिनकर का स्वर लगभग धमकी भरा हो गया है।

> अच्छा, तब प्यारे! और चार दिन मौज करो/ भूडोल नहीं नीचे मिट्टी पर दम लेगा;
> लीलेगा सारा व्योम और पूर्णाहुति में/ वह नहीं स्वर्ग से कभी ग्रास कुछ कम लेगा।[53]

लेकिन ऐसा सोचना नादानी होगी कि दिनकर को यह क्रोध केवल उच्चवर्ग पर आता है। अगर संकट राष्ट्र के ऊपर हो, तो सरकार से किसी भी तरह का असहयोग दिनकर को नाकाबिले बर्दाश्त है। खासकर हड़ताल से तो दिनकर को हमेशा परेशानी महसूस हुई है। हड़तालियों के प्रति अपनी नाखुशी का इजहार दिनकर ने 'पहली वर्षगांठ' शीर्षक कविता में भी किया था, 'परशुराम की प्रतीक्षा' में तो यह नाखुशी खीज का रुप ले लेती है

> कह दो प्रपंचकारी, कपटी जाली से/ आलसी, अकर्मठ, काहिल, हड़ताली से
> सी लें जबान, चुपचाप काम पर जाएं/ हम यहां रक्त, वे घर में स्वेद बहाएं
> हम दें तुमको विजय, हमें तुम बल दो/ दो शस्त्र और अपना संकल्प अटल दो
> हों खड़े लोग कटिबद्ध वहां यदि घर में/ है कौन यहां जीते जो हमें समर में?[54]

शांति काल में लिखी हुई कविताओं, खासकर राष्ट्रगौरव से संबंधित कविताओं में राष्ट्रवाद का एक बिल्कुल दूसरा निर्मल रूप देखने को मिलता है। ऐसी कविताओं में जहां एक ओर राष्ट्र के भीतर समत्व और बंधुता स्थापित करने की आकांक्षा दिखाई देती है, वहीं दूसरी ओर विश्व शांति की कामना भी इन कविताओं का केंद्रीय भाव है। गांधी पर लिखी हुई कविताओं में भी इसी भावना की अभिव्यक्ति होती है। ऐसी कविताओं में दिनकर भारत को विश्व शांति की राह दिखाने वाले देश के रुप में प्रस्तुत करते हैं। शांति कामना वाली इन कविताओं में आकर राष्ट्रवाद अंतर्राष्ट्रीयतावाद का विरोधी नहीं बल्कि उसका पूरक बन जाता है।

भारत नहीं स्थान का वाचक, गुण विशेष नर का है
एक देश का नहीं, शील यह भूमंडल भर का है
जहां कहीं एकता अखंडित, जहां प्रेम का स्वर है;
देश-देश में वहां खड़ा भारत जीवित भास्वर है
निखिल विश्व को, जन्मभूमि-वंदन को नमन करूं मैं।
किसको नमन करूं मैं भारत! किसको नमन करूं मैं?[55]

दिनकर का राष्ट्रवाद इकहरा नहीं है और न वह किसी एक जड़ सत्य को पकड़कर एक ही जगह पर स्थिर रहा है। अलग-अलग स्थितियों में दिनकर ने उपलब्ध विकल्पों के बीच श्रेष्ठतम चुनने का प्रयास किया है क्योंकि स्थितियां हमेशा सामान नहीं रहीं, इसीलिए विकल्प भी भिन्न-भिन्न हैं। फिर भी अगर हम इस राष्ट्रवाद की वरीयताओं को पहचानना चाहे तो यह मुश्किल नहीं है। एक स्वतंत्र शक्तिशाली समतामूलक धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक समाजवादी राष्ट्र दिनकर को काम्य है, लेकिन राष्ट्र की स्वतंत्रता और स्थिरता सबसे ज्यादा जरूरी है।

संदर्भ

[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2058, पृष्ठ 319
[2] लोकदृष्टि और हिन्दी साहित्य, पीपुल्स लिटरेशी, दिल्ली, 1986, पृष्ठ 62-63
[3] गोपाल राय, राष्ट्रकवि दिनकर, ग्रंथ निकेतन, पटना, 1975, पृष्ठ 84
[4] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, पूर्वोक्त, पृष्ठ 44
[5] रामधारी सिंह दिनकर, दिल्ली, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2003, पृष्ठ 12
[6] मन्मथनाथ गुप्त, रामधारी सिंह दिनकर, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 1993, पृष्ठ 17
[7] मन्मथ नाथ गुप्त, अपने समय का सूर्य दिनकर, आलेख प्रकाशन, दिल्ली, 1981, पृष्ठ 23
[8] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, पूर्वोक्त, पृष्ठ 37
[9] रजनी पाम दत्त, आज का भारत, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2004, पृष्ठ 331
[10] रामधारी सिंह दिनकर, कुरुक्षेत्र, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 2007, पृष्ठ 31
[11] कन्हैयालाल फूलफगर (संपादक), शेष-निःशेष, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985, पृष्ठ 298
[12] रामधारी सिंह दिनकर, कुरुक्षेत्र, पूर्वोक्त, पृष्ठ 16
[13] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, पूर्वोक्त, पृष्ठ 90
[14] रामधारी सिंह दिनकर, रेणुका, उदयाचल, पटना, 1979, पृष्ठ 26
[15] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, पृष्ठ 86
[16] वही, पृष्ठ 87
[17] वही, पृष्ठ 87
[18] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005, पृष्ठ 41
[19] रामधारी सिंह दिनकर, परशुराम की प्रतीक्षा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृष्ठ 78
[20] वही, पृष्ठ 32
[21] रामधारी सिंह दिनकर, नील कुसुम, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010, पृष्ठ 95
[22] वही, पृष्ठ 96
[23] रामधारी सिंह दिनकर, चक्रवाल, अनुपम प्रकाशन, पटना, 2005, भूमिका, पृष्ठ 36
[24] रामधारी सिंह दिनकर, रेती के फूल, श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना, 1954, पृष्ठ 93-94
[25] रामधारी सिंह दिनकर, रेणुका, पूर्वोक्त, पृष्ठ 34
[26] रामधारी सिंह दिनकर, सपनों का धुंआ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृष्ठ 36
[27] रामधारी सिंह दिनकर, नील कुसुम, पूर्वोक्त, पृष्ठ 96
[28] वही, पृष्ठ 119
[29] रामधारी सिंह दिनकर, नील कुसुम, पूर्वोक्त, पृष्ठ 101
[30] रामधारी सिंह दिनकर, नीम के पत्ते, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1999, पृष्ठ 1
[31] रामधारी सिंह दिनकर, नील कुसुम, पूर्वोक्त, पृष्ठ 101
[32] डा.जयसिंह 'नीरद', दिनकर व्यक्तित्व और सृजन, के.एल.पचौरी प्रकाशन, गाजियाबाद, 2002, पृष्ठ 207
[33] रामधारी सिंह दिनकर, प्रणभंग तथा अन्य कविताएं, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1997 पृष्ठ 38
[34] डॉ. गोपाल राय, राष्ट्रकवि दिनकर, पूर्वोक्त, पृष्ठ 83
[35] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, पूर्वोक्त, पृष्ठ 52
[36] रामधारी सिंह दिनकर, सामधेनी, अनुपम प्रकाशन, पटना, 2005, पृष्ठ 57
[37] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, पृष्ठ 56
[38] रामधारी सिंह दिनकर, परशुराम की प्रतीक्षा, पृष्ठ 15

[39] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, पृष्ठ 52-53
[40] बिपन चंद्र, आधुनिक भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2011, पृष्ठ 208
[41] देखें बारदोली वंदना शीर्षक कविता, रामधारी सिंह दिनकर रचना संचयन, संपादक : कुमार विमल, साहित्य अकादमी, दिल्ली, 2008, पृष्ठ 50-51
[42] रामधारी सिंह दिनकर, इतिहास के आंसू, उदयाचल, पटना, 1955, पृष्ठ 17
[43] वही, पृष्ठ 19
[44] वही, पृष्ठ 17-19
[45] रामधारी सिंह दिनकर, सपनों का धुंआ, पूर्वोक्त, पृष्ठ 39
[46] रामधारी सिंह दिनकर, कुरुक्षेत्र, पूर्वोक्त, पृष्ठ 25
[47] रामधारी सिंह दिनकर, दिल्ली, पूर्वोक्त, पृष्ठ 17
[48] रामधारी सिंह दिनकर, हारे को हरिनाम, मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, 1998, पृष्ठ 47-48
[49] रामधारी सिंह दिनकर, सपनों का धुंआ, पूर्वोक्त, पृष्ठ 44
[50] रामधारी सिंह दिनकर, नील कुसुम, पूर्वोक्त, 119
[51] रामधारी सिंह दिनकर, नीम के पत्ते, पूर्वोक्त, पृष्ठ 3
[52] रामधारी सिंह दिनकर, परशुराम की प्रतीक्षा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृष्ठ 32, तुलनीयः 'वट की विशालता के नीचे जो अनेक वृक्ष/ ठिठुर रहे हैं, उन्हें फैलने का वर दो/ रस सोखता है जो मही का भीमकाय वृक्ष/ उसकी शिराएं तोड़ो, डालियां कतर दो।' रामधारी सिंह दिनकर, कुरुक्षेत्र, पूर्वोक्त, पृष्ठ 76
[53] रामधारी सिंह दिनकर, नील कुसुम, पूर्वोक्त, पृष्ठ 73
[54] रामधारी सिंह दिनकर, परशुराम की प्रतीक्षा, पूर्वोक्त, पृष्ठ 13
[55] रामधारी सिंह दिनकर, नील कुसुम, पूर्वोक्त, 96

अध्याय पांच

दिनकर के काव्य में अभिव्यक्त लोकतांत्रिक मूल्य

लोकतंत्र और भारतीय लोकतंत्र

लोकतंत्र का स्वप्न और दिनकर

लोकतंत्र का यथार्थ और दिनकर

लोकतंत्र, राष्ट्रवाद और हिंसा का प्रश्न

लोकतंत्र और भारतीय लोकतंत्र

दिनकर के काव्य के लोकतांत्रिक पहलुओं को देखने से पहले इस उप-अध्याय में हम बेहद संक्षेप में भारतीय लोकतंत्र की विशेषताओं का परिचय प्राप्त करेंगे। यहां हम चर्चा करेंगे कि भारतीय लोकतंत्र की नींव जिस संविधान के आधार पर रखी गई, भारतीय भूगोल और संस्कृति से उसका कैसा संबंध है तथा लोकतांत्रिक मूल्यों के धरातल पर वह नागरिकों को किस प्रकार के अधिकार देता है।

किसी भी समाज को व्यवस्थित ढंग से चलाने अथवा अराजकता से बचाने के लिए नियम-कानूनों की आवश्यकता होती है। पूर्व-आधुनिक समाज, जहां ये नियम-कानून प्रत्यक्ष नहीं दिखते, वहां भी रीति-रिवाज और परम्पराओं के माध्यम से इस उद्देश्य की पूर्ति होती रही है। ऐसे नियम-कानून समाज का अनुकूलन कर उसकी दिशा का निर्धारण करते हैं। मानव समाज को व्यवस्थित और नियंत्रित करने के ऐसे प्रयासों के फलस्वरूप ही विभिन्न शासन पद्धतियों का जन्म हुआ। इन व्यवस्थाओं के गुणों-अवगुणों के परिचय ने समाज को निरंतर श्रेष्ठ शासन पद्धति विकसित करने के लिए मजबूर किया। शासन पद्धति में आने वाले बदलाव आमतौर पर संघर्षों के माध्यम से ही संभव हुए क्योंकि पद्धतियों का परिवर्तन हमेशा मौजूदा शासक वर्ग और वर्चस्वशाली तबके को अपदस्थ भी करता है। संघर्षों की इसी प्रक्रिया में आधुनिक समाज ने समुदाय विशेष के वर्चस्व को खत्म कर आम जनता की इच्छाओं और जरूरतों से संचालित शासन पद्धति को मानवीय विकास के लिहाज से सबसे उचित समझा। आम जनता की साझी इच्छाओं से संचालित होने वाली इसी व्यवस्था को हम 'लोकतंत्र' के नाम से जानते हैं।

दुनिया में जितने लोकतांत्रिक देश हैं, उतने तरह के लोकतंत्र भी हैं। इसकी वजह यह है कि हर देश ने अपनी सामाजिक बनावट के अनुसार अपना मॉडल विकसित किया है। हम लोकतांत्रिक संस्थाओं (निर्वाचित सरकार, स्वायत्त न्यायपालिका, स्वतंत्र मीडिया इत्यादि) और लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को तो चिन्हित कर सकते हैं लेकिन लोकतंत्र के लक्षणों अथवा मूल्यों की ऐसी कोई आधिकारिक सूची नहीं बनी है जिसके आधार पर तमाम देशों अथवा समाजों को लोकतांत्रिक और अलोकतांत्रिक की श्रेणियों में बांट दिया जाए। असल में लोकतंत्र कोई

घटना या स्थिति होने की बजाय एक प्रक्रिया है। फ्रांस की राज्यक्रांति में व्यक्त आकांक्षाओं – सभी के लिए स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व – को साकार रूप देने की प्रक्रिया ही लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया है। अलग-अलग समाजों की अपनी बनावट के कारण इन मूल्यों को हासिल करने की प्रक्रिया में कई अन्य लोकतांत्रिक मूल्यों का जन्म हुआ है, निजता, धर्मनिरपेक्षता, सामाजिक न्याय, लैंगिक समानता और पर्यावरणीय संवेदनशीलता इत्यादि ऐसे ही मूल्य हैं।

आम धारणा में लोकतंत्र को 'जनता द्वारा, जनता के लिए, जनता की' शासन प्रणाली के रूप में देखा जाता है। इस शासन प्रणाली के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए दर्शन के विशेषज्ञ इतिहासकार कार्ल एल. बेकर ने कहा कि

> लोकतांत्रिक शासन की मूल कसौटी हमेशा यही रही है कि राजनैतिक सत्ता का स्रोत शासक में न होकर जनता में ही रहे। लोकतांत्रिक शासन का अर्थ हमेशा ऐसा शासन रहा है जिसमें नागरिक, या इनकी उतनी काफी संख्या कि वे न्यूनाधिक प्रभावकारी रीति से सामान्य संकल्प को व्यक्त कर सकें, समय-समय पर स्वतंत्रतापूर्वक, और प्रतिष्ठित पद्धतियों के अनुसार शासकों को नियुक्त करने या हटाने के लिए और जिन कानूनों के द्वारा समाज का शासन होता हो, उन्हें पारित करने या रद्द करने के लिए कार्य करें।[1]

लोकतंत्र के मुख्यतः दो रूप माने जाते हैं, प्रत्यक्ष लोकतंत्र तथा प्रातिनिधिक लोकतंत्र। दोनों ही रूपों के कई आन्तरिक भेद भी हैं। प्रत्यक्ष लोकतंत्र का एक रूप स्विटजरलैंड में प्रचलित है, लेकिन आधुनिक दुनिया के ज्यादातर देशों ने लोकतंत्र के प्राधिनिधिक रूप का ही चुनाव किया।

औपनिवेशिक शासन से आजादी के बाद भारत में भी प्रातिनिधिक लोकतंत्र की प्रणाली को अपनाया गया, वही शासन प्रणाली आज तक चल रही है। इसके अंतर्गत मताधिकार का उपयोग कर भारत के वयस्क नागरिक पांच वर्ष की अवधि के लिए अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं। ये प्रतिनिधि जनता के प्रति नैतिक रूप से वचनबद्ध होते हैं और जनहित की सुरक्षा उनका दायित्व होता है। हम पीछे देख चुके हैं कि स्वराज्य के आन्दोलन में यह प्रेरणा अंतर्निहित थी कि औपनिवेशिक शासन से मुक्ति शोषण के विभिन्न रूपों से आजादी दिलाएगी, यही वजह थी कि इस आन्दोलन में आम जनता ने खुलकर

हिस्सेदारी की थी। ऐसे साझे संघर्ष के जरिये स्वतंत्रता हासिल करने के कारण 'स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व' का नारा भारत के प्रसंग में और भी अधिक महत्व रखता है।

भारत का भौगोलिक क्षेत्र अत्यंत व्यापक और सांस्कृतिक विविधताओं से भरा हुआ है। इसकी विविधता इसे सांस्कृतिक तौर पर जितना समृद्ध बनाती है, स्वतंत्रता से प्राप्त इसकी एकता और अखंडता को बनाए रखना उतना ही जटिल और मुश्किल था। इसकी इन जटिलताओं और मुश्किलों को ध्यान में रखते हुए स्वतंत्रता आन्दोलन के प्रतिनिधियों तथा संविधान निर्माताओं ने भारत के लिए प्राधिनिधिक लोकतंत्र के विशिष्ट मॉडल को भारत के लिए उपयुक्त समझा। इस प्रणाली में एक ओर पूरे भारत में केन्द्रीय शासन व्यवस्था है, तो वहीं विभिन्न राज्यों की अपनी शासन व्यवस्था भी है। विभिन्न राज्यों को अपनी भौगोलिक और सांस्कृतिक विशिष्टताओं के आधार पर विशिष्ट अधिकार भी प्राप्त हैं। उदाहरण के लिए जहां हिन्दी को देश भर में राजभाषा के तौर पर स्वीकार किया गया, वहीं तमाम राज्य अपनी भाषा का प्रयोग करने के लिए स्वतंत्र भी हैं। तात्पर्य यह कि भारतीय लोकतंत्र के निर्माण की प्रक्रिया में इसका भरसक प्रयास किया गया कि राष्ट्र के कानून राज्यों अथवा जनता पर थोपे हुए न हों।

नागरिक अधिकार किसी भी लोकतंत्र की कसौटी होते हैं, किसी समाज के अपने लोकतांत्रिक मूल्य भी इन्हीं अधिकारों से निर्धारित होते हैं। जहां लोकतंत्र अपने नागरिकों के श्रम का देशहित में इस्तेमाल करता है, वहीं नागरिकों के मौलिक अधिकारों को सुनिश्चित भी करता है। भारतीय लोकतंत्र भी अपने नागरिकों के 6 मौलिक अधिकारों (समानता का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार, धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार, संस्कृति और शिक्षा के अधिकार तथा संवैधानिक उपचार का अधिकार) को सुनिश्चित करता है। ये मौलिक अधिकार भारत की जटिलताओं को ध्यान में रखकर ही तैयार किए गए हैं और इसीलिए ये भारतीय लोकतंत्र को बेहद उदार भी बनाते हैं। भारतीय लोकतंत्र ने जहां प्रत्येक नागरिक को पारिवारिक जीवन में अपनी धार्मिक-सांस्कृतिक आस्था के अनुरूप आचरण करने की स्वतंत्रता दी, वहीं भारतीय जातिव्यवस्था में मौजूद अस्पृश्यता को अपराध भी घोषित किया। 'स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व और न्याय' की मूल भावना इन लोकतांत्रिक अधिकारों की आधारशिला है।

भारतीय लोकतंत्र नागरिकों के समान अधिकार में विश्वास रखता है और जाति, धर्म, लिंग, शिक्षा अथवा आर्थिक आधार पर किसी व्यक्ति के साथ भेदभाव किये जाने को अपराध मानता है। यह व्यवस्था सभी नागरिकों को न केवल मानवीय गरिमा के साथ जीने का अधिकार देती है, बल्कि नीतियों में बदलाव के लिए चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से राजनीतिक हस्तक्षेप का अधिकार भी देती है। नागरिक अधिकारों का सुनिश्चित किये जाने की जिम्मेदारी लोकतांत्रिक संस्थाओं की होती है। एक ओर ऐसी संस्थाएं हैं जो लोकतांत्रिक मूल्यों और अधिकारों से नागरिकों को परिचित कराती हैं और समाजिक जरूरतों और समस्याओं की सूचना देती हैं तो वहीं नाागरिकों के संविधान प्रदत्त लोकतांत्रिक अधिकारों की सुरक्षा की जिम्मेदारी न्यायपालिका की होती है। बहरहाल, भारत को दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र कहा जाता है। भारतीय लोकतंत्र की विशिष्टताएं भी उसकी भौगोलिक सीमा की तरह ही बेहद व्यापक हैं। इसके लोकतांत्रिक मूल्य और व्यापक उद्देश्यों को संक्षेप में संविधान की उद्देशिका में जाहिर किया गया है :

'हम भारत के लोग भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न समाजवादी पंथ निरपेक्ष लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय; विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता; प्रतिष्ठा और अवसर की समता; प्राप्त कराने के लिए तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखंडता, सुनिश्चित कराने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर... संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।'

लोकतंत्र का स्वप्न और दिनकर

पिछले अध्याय में हम यह चर्चा कर चुके हैं कि स्वतंत्रता दिनकर की पहली प्राथमिकता है। लोकतांत्रिक मूल्यों की त्रिमूर्ति (स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व) में स्वतंत्रता को सर्वोपरि मानने के कारण स्पष्ट हैं। समाजवाद या लोकतंत्र तो दूर किसी पराधीन राष्ट्र को अपनी नियति के बारे में कोई भी फैसला लेने का हक नहीं है। पराधीनता केवल अपमान का विषय नहीं है, वह देश

के भौतिक संसाधनों और ऊर्जा को भी गुलाम बनाए रखती है। मानवता के क्रूर शोषण पर ही उसका अस्तित्व निर्भर है। यह सही है कि स्वाधीन हो जाने से ही सारी सुख-शान्ति नहीं हासिल हो जाएगी, लेकिन स्वाधीनता के माध्यम से ही तमाम परिवर्तनों की राह खुलती है। स्वाधीनता अपने आप में एक सतत प्रक्रिया है इसीलिए दिनकर उसकी अभ्यर्थना करते हैं : 'स्वातंत्र्य, पूजता मैं न तुझे इसलिए कि तूं सुख-शान्ति-रूप/ हां, उसे पूजता, जो चलता तेरे आगे नित क्रांति रूप।'

यह याद रखना जरूरी है कि लोकतंत्र की त्रिमूर्ति में स्वतंत्रता का आशय राष्ट्र की स्वतंत्रता नहीं है। जिस फ्रांस की राज्यक्रांति में 'स्वतंत्रता' की आकांक्षा व्यक्त की गई, वह कोई उपनिवेश या पराधीन राष्ट्र नहीं था। वहां स्वतंत्रता का आशय समाज के सभी व्यक्तियों की स्वतंत्रता से था। लोकतंत्र में भी स्वतंत्रता का आशय यही होता है। पराधीन राष्ट्र लोकतंत्र हो ही नहीं सकता। दिनकर के सामने स्वतंत्रता के ये दो आशय बिल्कुल स्पष्ट हैं। इसीलिए जहां वे राष्ट्र की स्वतंत्रता को सर्वोपरि रखते हैं, वहीं आजादी के बाद भी वे लगातार स्वतंत्रता के पक्ष में आवाज उठाते हैं। राष्ट्र की स्वतंत्रता का उल्लास मना रहे देश के नागरिकों को वे ऐन उसी वक्त याद दिलाते हैं कि यह आजादी 'सबकी निर्बाध समुन्नति का संवाद' जरूर है, लेकिन यह अपने आप में एक चुनौती भरी जिम्मेदारी भी है। अभी हमने दरवाजा खोला है, लेकिन मंजिल तक नहीं पहुंचे हैं।[2] वास्तविक लोकतंत्र को साकार करना ही यह वांछित मंजिल है।

किसी लोकतंत्र के लिए सबसे पहली जरूरत है अपना 'तंत्र'। संयोगवश 'स्वतंत्र' का भी आशय यही है। यह अपना तंत्र कैसा होगा, इसकी बहुत स्पष्ट कल्पना देश-वासियों के सामने नहीं थी। वे राजतंत्र से परिचित थे, उनकी स्मृतियों में राजाओं-रानियों की कहानियां बसी हुई थीं और राजे-रजवाड़ों के रूप में उन्होंने राजतंत्र के खंडहरों को भी देखा था। शहंशाहों के वैभव के प्रति उनके मन में आकर्षण था तो सामंतों-जमींदारों के उत्पीड़न से भी वे अनजान नहीं थे और सबसे बढ़कर उन्हें यह पता था कि आम जन की बेहतरी का कोई मार्ग राजतंत्र से होकर नहीं जाता। लोकतंत्र इस बात का आश्वासन दिलाता था कि जनता अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से राष्ट्र को मनचाहा रूप दे सकती है। यही एक तंत्र था जिसमें खास से लेकर आम तक सबकी बराबर भागीदारी की संभावना दिखती थी। इस आदर्श

कल्पना में कोई दोष नहीं था और अगर जनता से चुनाव में कोई गलती हो जाए तो उसे फिर से चुनाव के जरिये अपनी गलती को दुरुस्त करने का विकल्प भी था। आजादी को एक सतत प्रक्रिया के रूप में देखते हुए दिनकर ने उसे लोकतंत्र का अभिन्न अंग माना। दिनकर की कल्पना में यह बात असंभव सी थी कि जनता की इच्छा के विरुद्ध कोई सरकार टिक भी सकती हैः

है कौन जगत में जो स्वतंत्र जनसत्ता का अवरोध करे?
रह सकता सत्तारूढ़ कौन, जनता जब उसपर क्रोध करे?
आजादी केवल नहीं आप अपनी सरकार बनाना ही,
आजादी है उसके विरुद्ध खुलकर विद्रोह मचाना भी।[3]

'विद्रोह' मचाने से दिनकर का ठीक-ठीक क्या तात्पर्य था कहना मुश्किल है। तार्किक तौर पर देखें तो लोकतांत्रिक सरकार चूंकि जन-आकांक्षाओं का ही प्रतिनिधित्व करती है, इसलिए जनता में ही संपूर्ण सत्ता निहित है और अगर कोई सरकार जनता के विरुद्ध सत्ता में बनी हुई है तो उसे किसी भी विधि से अपदस्थ कर देने का जनता को पूरा हक है। आजाद देश के बेखबर प्रतिनिधियों को चेतावनी देते हुए दिनकर ने कहा कि जनता को उस विवश हिन्दू स्त्री की तरह न समझें जो रिश्ता हो जाने भर के एवज में आजन्म गुलामी सहती है।

मत खेलो यों बेखबरी में, जनता फूल नहीं है
और न ही हिन्दू कुल की अबला सतवन्ती नारी।
जो न भूलती कभी एक दिन कर गहनेवालों को
मरने पर भी सदा उसी का नाम जपा करती है।
जन समुद्र यह नहीं, सिन्धु है यह अमोघ ज्वाला का
जिसमें पड़कर बड़े-बड़े कंगूरे पिघल चुके हैं।
लील चुका है यह समुद्र जाने कितने देशों में
राजाओं के मुकुट और सपने नेताओं के भी।[4]

'जनतंत्र का जन्म', 'जनता' तथा 'रोटी और स्वाधीनता' जैसी कविताएं इस बात का स्पष्ट साक्ष्य हैं कि दिनकर की दृष्टि में जनता ही भावी लोकतंत्र में वास्तविक शासक होने जा रही थी। लोकतंत्र उनके लिए जनता के नाम पर चलाई जाने वाली कोई आडम्बरपूर्ण सांकेतिक

शासन प्रणाली नहीं थी। संविधान लागू होने के अवसर पर लिखी कविता 'जनतंत्र का जन्म' में जनता को ही इतिहास निर्माता बताते हुए उन्होंने यह विश्वास व्यक्त किया कि जनता को सिंहासन पर बैठाने का वक्त आ पहुंचा है। यह महत्वपूर्ण है कि इस कविता में भले सम्पूर्ण तैंतीस करोड़ जनता को देश का भावी शासक घोषित किया गया है, लेकिन वास्तविक अभ्यर्थना मेहनतकश लोगों की ही की गई है। देवता की उपाधि खेतों और खलिहानों में काम करने वाले लोगों को ही दी गई है।

> आरती लिए तूं किसे ढूंढ़ता है मूरख/ मंदिरों, राजप्रासादों में, तहखानों में?
> देवता कहीं सड़कों पर गिट्टी फोड़ रहे/ देवता मिलेंगे खेतों में, खलिहानों में।[5]

जनता को सिंहासन पर बैठाने से पहले कवि सिंहासन खाली करने की चेतावनी देता है। जाहिर है यह चेतावनी अब तक जनता पर शासन कर रहे विशेषाधिकार प्राप्त तबके के लिए है। जनतंत्र का जन्म सत्ता के पुनर्वितरण के साथ ही होगा, इसमें उन्हें कोई संदेह नहीं था।

एक लोकतांत्रिक देश में जनता की 'स्वतंत्रता' केवल सरकार बनाने और सरकार तोड़ने तक सीमित नहीं रह सकती। स्वतंत्रता इसलिए जरूरी है कि व्यक्ति को मनचाहे ढंग से जीने का, मनचाहे ढंग से रहने का तथा मनचाहे ढंग से सोचने और बोलने का हक हो। अगर कोई व्यक्ति शोषित होने को विवश हो तो उसे आजाद कैसे कहेंगे? अगर हम औपनिवेशिक भारत में जाति आधारित श्रम की विवशता और श्रम के शोषण के साथ बेगारी और बंधुआ मजदूरी के व्यापक प्रचलन को ध्यान में रखें तो समझ सकते हैं कि अपने श्रम का जायज हक मिलने की आकांक्षा कितनी बड़ी चीज थी : 'आजादी है अधिकार परिश्रम का पुनीत फल पाने का/ आजादी है अधिकार शोषणों की धज्जियां उड़ाने का'।[6]

दिनकर ने लोकतंत्र में नागरिकों की स्वतंत्रता और गरिमा की जो बुलंद घोषणाएं की हैं वह केवल जुमलेबाजी नहीं है। ये अधिकार स्वयं भारतीय संविधान ने नागरिकों को दिये हैं। हैरानी इन अधिकारों की चर्चा पर नहीं बल्कि उस निर्द्वंद्व विश्वास पर होती है जो दिनकर को इन लोकतांत्रिक अधिकारों पर है। यह यकीन आन्दोलनों और कुर्बानियों से हासिल की गई स्वाधीनता ने दिलाया था। यह यकीन उस दौर के नेताओं के वक्तव्यों में भी झलकता है और संभवतः आन्दोलनरत जनता भी स्वाधीनता से कुछ ऐसी ही अपेक्षाएं कर रही थी। दिनकर की

रचनाओं में जनता की उन्हीं आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति और उनकी पुष्टि होती दिखती है। दिनकर को भी पता है कि धर्म और परम्पराओं के बंधन अभी भी मौजूद हैं, पैगम्बरों और अवतारों का भय अभी भी मौजूद है, लेकिन अब व्यक्ति की इच्छा सर्वोपरि है। लोकतंत्र में बुद्धि पर बंधन लगाने वाले 'जुल्मी और अत्याचारी' हैं[7] और जाहिर है कि लोकतांत्रिक राज्य ऐसे अपराधियों का परिहार करेगा। पराधीनता का सबसे सूक्ष्म रूप है मानसिक पराधीनता, लोकतंत्र स्वाधीन मष्तिष्क वाले नागरिकों का राष्ट्र होगा। लोकतंत्र द्वारा प्रदत्त स्वतंत्रता में चिंतन और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा आचरण की स्वतंत्रता सन्निहित है

स्वातंत्र्य सोचने का हक है, जैसे भी मन की धार चले,
स्वातंत्र्य प्रेम की सत्ता है, जिस ओर हृदय का प्यार चले।
स्वातंत्र्य बोलने का हक है, जो कुछ दिमाग में आता हो,
आजादी है यह चलने की, जिस ओर हृदय ले जाता हो।[8]

जाहिर है कि असमानता की विराट खाई और सामंती संरचनाओं से जकड़े हुए राष्ट्र की राजनैतिक स्वाधीनता सिर्फ औपनिवेशिक शोषण से मुक्ति की गारंटी करती है। व्यक्ति से जिस मनोनुकूल निर्बाध ढंग से सोचने और आचरण करने का आह्वान दिनकर की उक्त कविता में अभिव्यक्त हुआ है वह तब तक संभव नहीं है, जब तक कि स्वतंत्रता के साथ-साथ समानता के अधिकार भी सुनिश्चित न किये जाएं। सामंती व्यवस्था में काम करने वाले और काम लेने वाले के पारस्परिक संबंध दास और स्वामी के होते थे। काम करने वाला व्यक्ति स्वतंत्र व्यक्ति नहीं हुआ करता था और विडम्बना यह थी कि जो उसके श्रम का शोषण करते थे, उन्हीं को वह अपना अन्नदाता, हुजूर और माई-बाप कहता था। ऐसा पराधीन व्यक्ति शोषण का विरोध कैसे कर सकता था? लेकिन एक स्वाधीन लोकतांत्रिक देश में काम लेने वाले और काम करने वाले किन्हीं भी दो व्यक्तियों के बीच के संबंध दास-स्वामी अथवा भिक्षुक-दाता के नहीं बल्कि दो स्वाधीन व्यक्तियों के संबंध होंगे। अपने श्रम का फल रिरियाकर नहीं, गरिमापूर्ण ढंग से लेना होगा।

अब नहीं गांव में भिक्षु और दिल्ली में कोई दानी है
तूं दास किसी का नहीं, स्वयं स्वाधीन देश का प्राणी है।
*** *** ***

गौरव की भाषा नई सीख, भिखमंगों की आवाज बदल
सिमटी बाहों को खोल गरुड़! उड़ने का अब अंदाज बदल।[9]

कोई भिक्षु और कोई दानी नहीं है क्योंकि सभी स्वाधीन देश के नागरिक हैं। यह समानता का अधिकार है जो सार्विक मताधिकार एवं कानून के समक्ष समानता जैसे अवसरों पर स्पष्ट रूप से दिखता है। लेकिन समानता का यह अधिकार सैद्धांतिक है। मात्र सैद्धांतिक समानता के अधिकार पर मनोनुकूल ढंग से जी सकने की उक्त स्वतंत्रता कैसे हासिल की जा सकती है?

किसी भेदभावपूर्ण व्यवस्था (चाहे वह सामंतवाद हो या पूंजीवाद) में विशेषाधिकार प्राप्त व्यक्तियों को कुछ भी करने की स्वतंत्रता हासिल होती है। लोकतंत्र की स्वतंत्रता इस अर्थ में विशिष्ट है कि वह सबके लिए 'समान स्वतंत्रता' है। विषमतापूर्ण व्यवस्था में अवसरों की असमानता के जरिये व्यक्तियों की स्वतंत्रता में असमानता पैदा की जाती है। अवसरों में भेदभाव का एक सामान्य उदाहरण है, सामान्य योग्यता के बावजूद समान अवसर न मिलना। दिनकर साहित्य में इसका सबसे प्रभावशाली उदाहरण कर्ण के साथ किया जाने वाला भेदभाव है। प्रतिभाशाली कर्ण जब अर्जुन के सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर होने के दावे को चुनौती देता है तो कृपाचार्य 'कुलीनता' का आश्रय लेकर उसे प्रतियोगिता के लिए ही अयोग्य ठहरा देते हैं।[10] अंगदेश का राज्य प्रदान कर दुर्योधन उसकी तथाकथित निर्योग्यता की भरपाई तो करता है, लेकिन कुरुराज्य लोकतंत्र नहीं था इसीलिए न तो प्रतियोगिता होती है और न ही कर्ण को अपनी योग्यता साबित करने का अवसर मिलता है।

अवसरों की असमानता से भी व्यापक और घातक है संरचनात्मक भौतिक असमानता। अगर दो व्यक्तियों को उपलब्ध भौतिक संसाधनों में ही असमानता है तो फिर तमाम सैद्धांतिक समानताओं के बावजूद उनमें समान क्षमताएं-योग्यताएं पैदा ही नहीं होंगी और न फिर उन्हें समान अवसर देने का सवाल पैदा होगा। संपन्न और गरीब लोगों की संतानों की शैक्षिक उपलब्धियों के बीच स्पष्ट दिखने वाली असमानता का संबंध उनकी योग्यता से नहीं, संसाधनों की असमानता से होता है। इसीलिए सभी नागरिकों की समानता का दावा करने वाले कल्याणकारी राज्य इस असमानता का उपचार करने के लिए गरीबों को निःशुल्क शिक्षा, स्वास्थ्य आदि सेवाएं देते हैं। बहरहाल, दिनकर के लिए स्पष्ट था कि संरचनात्मक भौतिक

असमानताओं के होते हुए न तो शोषण को रोका जा सकता है और न ही सभी नागरिकों को समान स्वतंत्रता प्रदान की जा सकती है। इसीलिए 'रोटी और स्वाधीनता' शीर्षक कविता की शुरुआत ही इस चिंता से होती है कि केवल स्वतंत्रता से पेट नहीं भर सकता और भूखा आदमी रोटी के लिए अपनी स्वतंत्रता को ही बेचकर किसी की गुलामी स्वीकार कर लेगा। ?

आजादी तो मिल गई, मगर यह गौरव कहां जुगाएगा?
मरभुखे! इसे घबराहट में तूं बेंच न तो खा जाएगा?
आजादी रोटी नहीं, मगर दोनों में कोई बैर नहीं,
पर कहीं भूख बेताब हुई तो आजादी की खैर नहीं।[11]

स्वाधीनता आन्दोलन के चरमोत्कर्ष के वर्षों में रचित 'कुरुक्षेत्र' में दिनकर ने गहन चिंतन के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले, जो उनकी परवर्ती रचनाशीलता में भी विन्यस्त रहे। ये निष्कर्ष समता के प्रति दिनकर की प्रतिबद्धता और उनकी लोकतांत्रिक सोच के प्रमाण हैं। 'कुरुक्षेत्र' के अंतिम सर्ग में भीष्म के वक्तव्य के माध्यम से दिनकर ने कहा कि तमाम सामाजिक और शारीरिक भेदों के बावजूद सभी मनुष्य मूलतः समान हैं। प्रकृति प्रदत्त संपदा पर सभी का समान अधिकार है इसीलिए सभी का सुख-भाग समान किये बिना स्थायी शान्ति असंभव है। भीष्म का यह संदेश असल में सन्निकट भावी लोकतंत्र का ही आदर्श स्वप्न था। लोकतंत्र का यह स्वप्न समाजवाद की कल्पना के साथ एकाकार हो जाता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि कम्युनिस्टों-सोशलिस्टों से लेकर गांधी, नेहरू और दिनकर सभी के मन में समाजवाद के प्रति आकर्षण था, भले उसकी रूप-रेखाओं को लेकर उनके मन में किंचित भिन्नता रही हो। मुख्य मतभेद इस प्रश्न पर था कि समाजवाद को लाने का मार्ग शान्ति हो अथवा क्रांति। चूंकि आजादी के बाद सत्ता स्वयं राष्ट्रीय आन्दोलन के नेतृत्वकर्ताओं को ही मिल गई और जनता का अधिकांश इस आजादी को लेकर उत्साहित था, इसलिए क्रांति स्वयमेव स्थगित हो गई। लोकतंत्र समाजवाद को लाने का सबसे उपयुक्त शान्तिपूर्ण मार्ग होगा। यह ध्यान देने योग्य है कि 'हाहाकार' समेत तमाम पूर्ववर्ती कविताओं में दिनकर ने स्वर्ग पर हमला करने और उसकी सम्पत्ति धरती पर लाने की कामना व्यक्त की थी। पन्द्रह अगस्त 1947 के अवसर पर लिखित कविता 'अरुणोदय' में पुनः उसी मिथक को याद करते हुए वे अपना संकल्प दोहराते हैं :

निकले हैं हम प्रण किये अमृत घट पर अधिकार जमाने को
इन ताराओं के पार, इन्द्र के गढ़ पर ध्वजा उड़ाने को।
सम्मुख असंख्य बाधाएं हैं, गरदन मरोड़ते बढ़े चलो,
अरुणोदय है यह उदय नहीं, चट्टान फोड़ते बढ़े चलो।[12]

आजादी के आरम्भिक वर्षों में ही दिनकर के जीवन में दो महत्वपूर्ण बदलाव हुए। एक तो यह कि कुछ ही समय बाद वे खुद इस लोकतंत्र के एक प्रतिनिधि बन गए और इसी से संबंधित दूसरा बदलाव यह कि सरकार का अंग बनकर दिनकर ने देखा कि लोकतंत्र के 'सम्मुख असंख्य बाधाए' असल में अपेक्षा से अधिक कठोर हैं। आजादी के बाद नेहरू ने कहा था कि अमीरी-गरीबी के अन्तर का खात्मा ही 'सच्चा लोकतंत्र' होगा। इसके लिए वे इतने दृढ़ संकल्प थे कि उन्हें दोस्ती और सहकार से काम न बनने की स्थिति में 'कानून और सरकार के जोर' का इस्तेमाल करने पर भी कोई ऐतराज नहीं था। 'सम्मुख असंख्य बाधाएं हैं, गरदन मरोड़ते बढ़े चलो' में भी उसी विश्वास की अनुगूंज समाहित है। जनभावनाओं का प्रतिनिधित्व करने वाली लोकतांत्रिक सरकार की ताकत पर दिनकर को भी बहुत यकीन था। 'स्वर्ग के दीपक' शीर्षक कविता में दिनकर ने 'उच्च कुल' के अभिमानियों को चेतावनी दी कि मौसम बदल गया है, वे आकर हमारी कतार में शामिल हो जाएं वरना यह काम जबरन संपन्न किया जाएगा।

कहता हूं, मौसम फिरा, सितारों! होश करो/ कतरा कर टेढ़ी चाल भला अब क्या चलना?
माना, दीपक हो बड़े दिव्य, ऊंचे कुल के/ लेकिन, मस्ती में अकड़-अकड़ कर क्या जलना?
*** *** ***
क्या तुम संभाल लोगे इस व्योम-विवर्तन को?/ जादू-टोने से हवा न बांधी जाएगी;
लाकर कतार के भीतर तुम्हें खड़ा करने/ रूई के पुतलों! निश्चय, आंधी आएगी।[13]

लेकिन जल्द ही नेहरू के साथ-साथ दिनकर को भी इस बात का एहसास हो गया कि मौजूदा बाधाओं की गरदन मरोड़ना इतना आसान नहीं है। जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार के कार्यक्रम तो बने लेकिन उनका असर नगण्य रहा। इससे लोकतंत्र का स्वप्न भंग तो नहीं हुआ, लेकिन इस बात का एहसास जरूर हो गया कि लोकतंत्र रातों-रात सबकुछ नहीं बदल सकता। संघर्ष लम्बा है और जनता अगर कष्ट सहने और धैर्य रखने को तैयार हो तो स्वतंत्रता से समाजवाद तक का रास्ता एकदम सीधा और सुस्पष्ट है :

रोटी उसकी, जिसका अनाज, जिसकी जमीन, जिसका श्रम है,
अब कौन उलट सकता स्वतंत्रता का सुसिद्ध सीधा क्रम है।[14]

यह सीधा क्रम कम्युनिस्टों के लोकप्रिय नारे 'जो जोतेगा वो बोएगा, जो बोएगा वो काटेगा, जो काटेगा वो बांटेगा' की याद दिलाता है, जो लोकतंत्र और समाजवाद की कल्पना के एकमेक हो जाने का ही एक और उदाहरण है। आजादी के बाद की अपनी कविताओं में दिनकर ने पूंजीपतियों-भूस्वामियों इत्यादि को बार-बार चेतावनी दी कि वे जनता की संपत्ति उन्हें वापस कर दें इसी में उनका सुयश और सुरक्षा दोनों हैं। उन्होंने यह भी समझाने की कोशिश की कि (कांग्रेस का) लोकतंत्र संचय करने वालों का रखवाला नहीं है। जो लोग पाप से संचित कमाई को इस लोकतंत्र की आड़ लेकर क्रांति से बचाना चाहते हैं, वे गलतफहमी में न रहें।[15] दो ही विकल्प हैं या तो गांधी के रास्ते पर चलकर दुनिया को बदलने में सहयोग करें या फिर क्रांति के हाथों मिटने को तैयार रहें।[16] विनोबा के भूदान आन्दोलन को देखकर बहुतों को लगने लगा कि समाजवाद में शान्तिपूर्ण संक्रमण आसन्न है। इस 'महान क्रांति' में सहयोग करने के लिए दिनकर ने जमींदारों से जमीन देने का आह्वान किया।[17]

आजादी के बाद परिवर्तन का शान्तिपूर्ण मार्ग ही दिनकर को श्रेयस्कर लगता रहा। समानता के प्रति अपनी अनमनीय प्रतिबद्धता के बावजूद आजाद भारत में दिनकर ने धनपतियों को क्रांति की चेतावनी तो दी, लेकिन जनता से क्रांति का आह्वान नहीं किया, शायद लोकतंत्र में यह उनकी आस्था का ही परिणाम था। लोकतंत्र में महत्व केवल स्वतंत्रता और समानता का ही नहीं, बंधुत्व का भी है। हिंसा के जरिये हासिल की गई भौतिक समानता किन्हीं उच्चतर मूल्यों को जन्म देगी इस पर उन्हें पूरा-पूरा संदेह था। समाजवाद के प्रसंग में गांधी और मार्क्स की तुलना करते हुए वे दो वजहों से गांधी को मार्क्स के आगे की कड़ी बताते हैं। पहली वजह है अहिंसा पर गांधी का जोर और दूसरी है भौतिक जरूरतों के साथ मनुष्य की आध्यात्मिक आवश्यकताओं को भी पूरा करने का गांधी का सरोकार। 'गांधी से मार्क्स की परिष्कृति' शीर्षक लेख में निष्कर्ष स्वरूप दिनकर ने लिखा ''पशुता से और भी अधिक दूर जाओ, यह विकासवाद की पुकार है श्रेणीहीन समाज एक अविचल लक्ष्य है। किन्तु हम उसे कैसे प्राप्त करेंगे? मारकाट, खूंरेजी और 'कूप' से अथवा मनुष्य के भीतर उच्च मानवता को जगाकर? हम मनुष्य के शरीर ही नहीं, उसकी आत्मा की भी रक्षा करना चाहते

हैं। जो लोग मार्क्सवादी प्रयोगों से थक गए हैं, उन्हें निराश नहीं होना चाहिए; क्योंकि गांधीजी इसी प्रयोग के दूषण दूर करने आए हैं। मार्क्स ने मानव समाज का लक्ष्य बदल दिया। गांधीजी मनुष्य को उस लक्ष्य तक जाने की निर्मल राह बताएंगे।''[18]

दिनकर की दृष्टि में यह बिल्कुल स्पष्ट है कि भौतिक जरूरतों की पूर्ति सबसे पहले आवश्यक है। भौतिक समानता को गैर-जरूरी मानने वाले विचारकों पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने पूछा भी है कि 'रोटी और वसन, ये जीवन के सोपान प्रथम हैं, नवयुग के चिन्तकों ! तुम्हे इसमें भी कोई भ्रम है'?[19] इस स्पष्ट समझ के साथ दिनकर यह भी मानते हैं कि मनुष्य पशु नहीं है, इसीलिए उसका लक्ष्य यहीं समाप्त नहीं हो जाता। लोकतांत्रिक स्वतंत्रता का लक्ष्य कहीं अधिक उच्चतर है।

केवल रोटी ही नहीं, मुक्ति मन का उल्लास अभय भी है,
आदमी उदर है जहां, वहां वह मानस और हृदय भी है।
*** *** ***
स्वाधीन हुआ किसलिए? गर्व से ऊपर शीश उठाने का?
पशु के समान अथवा खूंटे पर, घास पेट भर खाने को?[20]

'कुरुक्षेत्र' में दिनकर ने जिस आदर्श व्यवस्था की कल्पना की वह महत्वपूर्ण केवल इसलिए नहीं है कि उसमें सभी मनुष्यों का 'सुख-भाग' सम होगा, बल्कि वह इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि वह समाज में युद्ध की समस्या को हमेशा के लिए खत्म कर देगी। शान्ति को स्थायीत्व मिलेगा और सभी आपस में प्रेमपूर्वक रह सकेंगे। यही लोकतंत्र का बंधुत्व है। 'कुरुक्षेत्र' और परवर्ती रचनाओं का फर्क यह है कि जहां 'कुरुक्षेत्र' में न्याय को सर्वोच्च मूल्य और अहिंसा को शोषकों का पाखंड माना गया है, वहीं परवर्ती रचनाओं में अहिंसा को भी मूल्य के तौर पर स्वीकार किया गया है। 'कुरुक्षेत्र' में भौतिक समानता के समानान्तर कोई अन्य मूल्य नहीं है। जबकि बाद में स्वतंत्रता और बंधुत्व उसके साथ संतुलनकारी अवस्था में आ जाते हैं साथ ही मनुष्य की आध्यात्मिक आवश्यकताओं पर बल भी बढ़ जाता है।[21]

लोकतंत्र की कल्पना दिनकर ने जिस रूप में की है, वह एकांगी बिल्कुल नहीं है। स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व तीनों ही मूल्य उसमें परस्पर संबंद्ध हैं और एक-दूसरे को सशक्त करते हैं। जहां इन मूल्यों को ठोस धरातल पर उपलब्ध करने के लिए कुछ अन्य

सहयोगी मूल्यों (धर्म निरपेक्षता, सामाजिक न्याय और लैंगिक संवेदनशीलता इत्यादि) की जरूरत पड़ती है, वहीं यह भी सच है कि उक्त तीनों मूल्यों में से किसी एक की भी अनुपस्थिति अन्य को भी निरर्थक बना देगी। लोकतंत्र के मर्मज्ञ विद्वान और संविधान निर्मात्री समिति के अध्यक्ष डॉ.अम्बेडकर ने बिल्कुल ठीक याद दिलाया था कि

> यदि राजनीतिक लोकतंत्र का आधार सामाजिक लोकतंत्र नहीं है तो वह नष्ट हो जाएगा। सामाजिक लोकतंत्र का क्या अर्थ है, इसका अर्थ है वह जीवन पद्धति जो स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व को मान्यता देती है। जिसमें ये दोनों अलग-अलग न माने जाकर त्रिमूर्ति के रूप में माने जाते हैं। वे इस त्रिमूर्ति का एकीकरण हैं। इस अर्थ में यदि एक को हम दूसरे से अलग कर दें तो लोकतंत्र का आशय निष्फल हो जाएगा। स्वतंत्रता को समानता से अलग नहीं किया जा सकता, समानता को स्वतंत्रता से पृथक नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार स्वतंत्रता और समानता को बंधुत्व से विलग नहीं किया जा सकता।[22]

दिनकर का काव्य इसी भावना की पुष्टि करता है।

आरम्भ में हमने इस बात का संकेत किया था कि लोकतंत्र कोई घटना या स्थिति होने की बजाय एक प्रक्रिया है। लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया जितनी आगे बढ़ती है उसका स्वप्न भी उतना ही विकसित-विस्तृत और ठोस होता चला जाता है। दिनकर के प्रसंग में यह बात इसलिए उल्लेखनीय है क्योंकि देश में लोकतांत्रिक प्रणाली को स्थायीत्व मिल जाने के बाद भी लोकतांत्रिक मूल्यों पर दिनकर का आग्रह कम नहीं हुआ। एक अधिक बेहतर लोकतांत्रिक समाज की कामना दिनकर की रचनाओं के माध्यम से व्यक्त होती रही। 'कोयला और कवित्व' शीर्षक कविता में वे उस स्थिति की कल्पना करते हैं, जब श्रम विभाजन खत्म हो जाएगा, कलाकार और श्रमिक का भेद भी मिट जाएगा। श्रम विवशता नहीं, बल्कि सृजनेच्छा का परिणाम होने के कारण स्वयं आनन्द का स्रोत बन जाएगा -

> और श्रमिक ही क्यों? समेट मुरली, फावड़े उठाकर
> कवि-गायक क्यों नहीं जाएंगे कोयले की खानों में?
> गीतों की फुहियां पड़ने से स्वेद सूख जाते हैं।
> और पसीनों के जल में जब ज्ञान स्नान करता है
> नयन शुद्ध होते, दर्शन की रीढ़ सुधर जाती है।
> सिद्ध गीत, जो रचा गया हो करघों की घर्घर में,

सिद्ध पुरुष जो नानाविध कर्मों में लगा हुआ हो,
बरबस नहीं, सहर्ष, स्वयं प्रेरित अपनी इच्छा से,
क्योंकि कर्म श्रम नहीं, कर्म मुदिता, आनन्द, पुलक है।[23]

दिनकर के काव्य में लोकतंत्र का स्वप्न निरंतर परिष्कृत होता जाता है वहीं यह बात भी सच है कि लम्बी काव्य यात्रा के दौरान उनके स्वर में बदलाव और आसानी से लक्षित किये जा सकते हैं। जहां आजादी के पहले की रचनाओं में आक्रोश का भाव प्रबल है, वहीं आजादी के आरम्भिक वर्षों में जब लोकतंत्र अभी आकार ले रहा था (और उसकी संभावनाएं अभी अनिश्चित थीं) दिनकर के स्वर में आत्मविश्वास और उत्साह का भाव प्रबल है। आजादी के डेढ़-दो दशकों में लोकतंत्र की गति और नियति को बहुत कुछ देख चुकने के बाद वह आत्मविश्वास और उत्साह कम हो जाता है, लेकिन उम्मीद बनी रहती है। 'हारे को हरिनाम' की कविताओं में भी यह उम्मीद बरकरार है। 'संतुलित समाज' शीर्षक कविता समानता की धारणा को और विस्तार देती है। एकांगी कोमलता और कठोरता, लोभ और भोग, ज्ञान और व्यवहार इनमें संतुलन और आदान-प्रदान की जरूरत बताते हुए यह कविता जहां फौजियों के मिजाज में भी नरमी और लचीलेपन की मांग करती है, वहीं पुरुष में स्त्रीत्व और स्त्रियों में पुरुषत्व के सम्मिश्रण को औचित्यपूर्ण बताते हुए लैंगिक समानता के पक्ष में खड़ी होती है। इसी संग्रह की एक अन्य कविता बड़े संक्षिप्त शब्दों में एक लोकतांत्रिक समाज के सामने मौजूद 'सबसे जरूरी काम' की शिनाख्त करती है।

वैसे तो सबकुछ जरूरी है/ मगर सबसे जरूरी बातें क्या हैं?
स्वच्छ शासन/ और घूस नहीं खाने वाला तंत्र/
बड़े नहीं, छोटे-छोटे यंत्र/
शिक्षा की उन्नति और खेती का चाल/
जो कुछ उपजे, उसे बांटकर खाने का भाव।
राष्ट्र का एक अंग दुबला/ और दूसरा मोटा न रहे
यानी एक आदमी बड़ा/ और दूसरा छोटा न रहे।[24]

दिनकर ने एक आदर्श लोकतंत्र की जो कल्पना की है, वह एक मूल्यबोध के रूप में उनकी पूरी रचनाशीलता में विन्यस्त रही है। इस आदर्श कल्पना के प्रतिमान पर ही वे अपने समाज और शासन के यथार्थ की आलोचना करते हैं। लोकतांत्रिक समाज का दिनकर का यह

स्वप्न हमारे लिये बेहद मूल्यवान है। सिर्फ शोध की ही दृष्टि से नहीं, बल्कि उसकी मूल्यवत्ता यह जानने के लिए भी है कि लोकतंत्र के स्वप्न को निर्मित और साकार करने की प्रेरणा देने में साहित्य की क्या भूमिका रही है। यह स्वप्न इसलिए भी मूल्यवान है ताकि हम जान सकें कि हमारे लिये क्या स्वप्न देखे गए थे। अगर ये सपने अभी भी पूरे नहीं हुए हैं तो यह हमारे ऊपर जिम्मेदारी की तरह है।

लोकतंत्र का यथार्थ और दिनकर

दिनकर ने एक आदर्श लोकतांत्रिक समाज की जो रूप रेखाएं बनाई हैं वह बहुत भव्य हैं; लेकिन दिनकर की कविता केवल स्वप्नदर्शी कविता नहीं है, वह उतनी ही यथार्थपरक कविता भी है। लोकतांत्रिक मूल्यबोध की असली कसौटी यथार्थपरक कविताओं में ही देखने को मिल सकती है। कवि अपने सामाजिक यथार्थ का अंकन जिस ढंग से करता है, जिन प्रवृतियों की आलोचना करता है और जिन्हें प्रोत्साहित करता है, उन्हीं से उसके लोकतांत्रिक मूल्यबोध की असली पहचान होती है। इस उप-अध्याय में हम सामाजिक यथार्थ पर लिखी गई दिनकर की कविताओं में अभिव्यक्त लोकतांत्रिक मूल्यों की चर्चा करेंगे।

पिछले अध्याय में हमने स्वतंत्रता के आरंभिक वर्षों में दिनकर के उत्साह की चर्चा की है। यह उत्साह व्यक्तिगत नहीं बल्कि सामूहिक था। आजादी के बाद 25 वर्षों में मूल्य में आई गिरावट का जायजा लेते हुए दिनकर ने लिखा

> पंडित जवाहरलाल नेहरु ने साधन की पवित्रता पर ध्यान रखा और देश में प्रजातंत्र की नींव को मजबूत बनाने की उन्होंने भरपूर कोशिश की। उनके समय में स्वतंत्रता की ताजी हवा नहीं, आंधी बहती थी। अखबार निर्भीक होकर बोलते थे, राजनीतिज्ञ मन की बात को मन में ही पचा कर नहीं रखते थे और भाषित होता था कि जो कुछ हो रहा है, खुले मैदान में हो रहा है और भीड़ का जो भी आदमी चाहे, सरकार को टोक सकता है। पंडित जी के मरने के बाद यही आजादी शाप बन गई। लोग इतनी बकवास करने लगे कि लगा, इस देश में कोई सरकार नहीं है[25]

दिनकर का निरीक्षण बिल्कुल ठीक है। आजादी के उत्साह का साक्ष्य उनकी कविताएं भी देती हैं जबकि परवर्ती अराजकता की आलोचना भी उनकी कविताओं में मौजूद है, हालांकि नेहरू को ऐसी स्पष्ट विभाजक रेखा मानना ठीक नहीं लगता। सच तो यह है कि आजादी के आरंभिक वर्षों के दौरान लिखी गई कविताओं में दोनों तरह की प्रवृत्तियां मौजूद हैं। एक ओर उनमें परिवर्तन के लिए अपार उत्साह दिखता है तो दूसरी ओर हर तरफ मौजूद अवसरवाद, लापरवाही और अराजकता की आलोचना भी उनकी कविताओं में मौजूद है। आजादी के एक वर्ष पूरा होने पर लिखी गई कविता 'पहली वर्षगांठ' में दिनकर ने एक साल की गतिविधियों का आलोचनात्मक लेखा-जोखा किया है। दिनकर को लगता है कि 'कुछ से कुछ और' हो जाने के लिए जो आजादी हासिल की गई थी वह नाकाम रही है। आजादी का इस्तेमाल सिर्फ नकल करने में किया जा रहा है, लोकतांत्रिक मूल्यों का जो सपना देखा गया था वह खोखला निकला।

लेकिन, यह क्या? सपनों में हाथ बढ़ाने पर
आता न पकड़ में कुछ भी, है सब शून्य-शून्य।
मुट्ठी रह जाती रिक्त, नहीं कुछ भी मिलता,
कल्पना फूंक से भरी हुई, पर, पोली है।[26]

दिनकर राष्ट्र की स्वाधीनता को सर्वोपरि मानते थे क्योंकि राजनैतिक पराधीनता अन्यान्य किस्म की परम पराधीनता का स्रोत होती है। जब राष्ट्र पराधीन है तो व्यक्ति को स्वाधीनता कैसे मिल सकती है? जब राष्ट्र की संपत्ति का दोहन हो रहा हो तो व्यक्ति को उसके श्रम का उचित मूल्य कैसे मिल सकता है? जब जीवन पर बंधन लगे हुए हो तो चिंतन पर बंधन क्योंकर नहीं होगा? दिनकर ने सोचा था कि आजाद लोकतांत्रिक देश में हर व्यक्ति को जीने, सोचने और बोलने की स्वतंत्रता मिलेगी। भूख से कराह रहे देश को आजादी रोटी से कुछ ज्यादा देगी। लेकिन दिनकर पाते हैं कि आजादी के कई वर्ष बीत जाने के बाद भी काम चाहने वालों को काम नहीं है, सोचने की आजादी नहीं है। अन्य अधिकारों की तो बात ही दूर, देश में इतनी गरीबी और भुखमरी है कि पूरा देश रोटी मांग रहा है और सत्ताधारी हैं कि समाधान करने के बजाय उसे उच्च मूल्यों का पाठ पढ़ा रहे हैं।

भूख लगी है, रोटी दो।
मन में नहीं प्रदीप हमारे, तन में दाहक आग
हम न जानते हिंसा-प्रतिहिंसा का यह खटराग
जिनका उदर पूर्ण हो वे सोचें चाहे जो बात
हम भूखों को सिर्फ चाहिए एक वसन, दो भात।
भूख लगी है, रोटी दो।
*** *** ***
सच है, अगर लोग भूखे हैं, भूख मिटानी ही होगी
चाहे मिले जहां लेकिन, रोटी तो लानी ही होगी।
भूख लगी है, रोटी दो।
सच तो है, रोटियां नहीं तो क्या ये कविता खाएंगे?
थाली में धरकर विराट कवियों के गीत चबाएंगे?[27]

अगर हम याद करें तो कुछ ही वर्ष पूर्व 'रोटी और स्वाधीनता' शीर्षक कविता में दिनकर ने देशवासियों को हिदायत दी थी कि पशुओं की तरह पेट भर भोजन करना आजादी नहीं है, आजादी एक उच्चतर मूल्य है और उसके लिए भूखे रहना भी श्रेयस्कर है। इन पंक्तियों को पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि दिनकर अपनी उसी बात का प्रत्युत्तर दे रहे हैं लेकिन इस कविता में भी दिनकर आजादी को रोटियां तक सीमित नहीं मानते। देश को केवल रोटी ही नहीं स्वतंत्र चिंतन का अधिकार भी चाहिए। 'हिमालय का संदेश' कविता में पेट की भूख और मानसिक भूख के द्वंद को प्रस्तुत करने के बाद अंततः समवेत स्वर में यह मांग सुनाई पड़ती है कि

रोटी और अभय भी दो।
तन को दो आहार अन्न का, मन को चिंतन का अधिकार,
तन-मन दोनों बढ़ें अगर तो चमक उठे, सचमुच संसार।
बाधामुक्त करो मानस को, शंका रहित हृदय भी दो।
रोटी और अभय भी दो।[28]

इस बात पर विवाद हो सकता है कि गरीब देशों में जनता के लोकतांत्रिक अधिकार सुनिश्चित करना कितना चुनौतीपूर्ण कार्य है, लेकिन भारत के प्रसंग में यह ध्यान रखने की बात है कि यह देश ना तो प्राकृतिक संसाधनों के अर्थ में गरीब है और न ही मानवीय

संसाधनों के अर्थ में। 'कुरुक्षेत्र' में दिनकर इस निष्कर्ष तक पहुंच गए थे कि प्राकृतिक संसाधनों के अतिरिक्त दुनिया की तमाम संपदा का सृजन मानवीय श्रम ने किया है, इसीलिए कर्म के फल पर सबसे पहला हक श्रमिक का है। अगर अपार श्रम करने के बाद भी मेहनतकश जनता भूखों मरने को विवश है तो इसका कारण देश की गरीबी नहीं बल्कि शोषण है। जब तक देश पराधीन था तब तक इस गरीबी, भुखमरी और दुर्दशा के लिए औपनिवेशिक शोषण को जिम्मेदार ठहराया जाता था। खुद दिनकर भी यही मानते थे, इसीलिए उन्होंने राष्ट्र की स्वाधीनता के प्रश्न को साम्यवादी समानता से ज्यादा जरूरी समझा था। स्वाधीनता को देश के करोड़ों लोगों के जीवन का सबसे बुनियादी सवाल मानते हुए 'दिल्ली और मास्को' शीर्षक कविता में उन्होंने लिखा था 'दिल्ली के नीचे मर्दित अभिमान नहीं केवल है/ दबा हुआ शत लक्ष नरों का अन्न वस्त्र धनबल है', लेकिन अगर आजादी के बाद भी भुखमरी और दुर्दशा बनी हुई है तो इसका कारण देश के भीतर मौजूद असमानता है। जिसे प्रदर्शित करने के लिए दिनकर अक्सर गरीबी और अमीरी के चरम उदाहरणों को आमने सामने रखते हैं। आजादी के बाद राजधानी दिल्ली को देख कर दिनकर को पूरी तरह यकीन हो गया कि दिल्ली ही देश के दुर्भाग्य की वजह है। शोषकों के जिस स्वर्ग की कल्पना स्वतंत्रता पूर्व उनकी कविताओं में आती थी दिल्ली उसका साकार रूप नजर आने लगी। यहां किसान नहीं हैं, खेत नहीं हैं, बस उद्यान ही उद्यान हैं। यहीं पर देश की किस्मत लिखी जा रही है और इन किस्मत लिखने वालों को इतनी चिंता करने की भी फुर्सत नहीं है कि 'खाते हैं वह जो अन्न कौन उपजाता है'। इस विडंबना पर दिनकर को न केवल हैरानी होती है, बल्कि उनके मन में आक्रोश उमड़ता है कि जिस गरीब आदमी के शोषण और बदहाली का नाम लेकर, जिसे अपनी ढाल बनाकर आजादी हासिल की गई उसे ही भुला दिया गया है। वे याद दिलाते हैं कि

यह वही आदमी है, जिसकी/ पीड़ाओं को आगे करके
स्वाधीन हुए थे तुम जिसकी/ प्रतिमा जग के सम्मुख धरके।
यह वह मनुष्य, जिसकी ज्वाला/ की ढाल बना तुम लड़ते थे
जिसकी ताबीज, पहनकर तुम/ शेरों की तरह अकड़ते थे[29]

दिनकर को अफसोस होता है की आजादी तो मिल गई, लेकिन पीड़ित जनतारूपी वह ताबीज टूट गई। अगर रूपक को समझें तो ताबीज पहनने वालों को तो आजादी मिल गई, लेकिन पीड़ित जनता अलग छूट गई। दिनकर साहित्य में देश और दुनिया के तमाम सवालों पर चिंता मौजूद है, लेकिन शोषण का विरोध और पीड़ित मानवता की पक्षधरता दिनकर के साहित्य का केंद्रीय सरोकार है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह पक्षधरता ही दिनकर काव्य में अभिव्यक्त तमाम लोकतांत्रिक मूल्यों का स्रोत है।

किसी आजाद लोकतांत्रिक देश की इससे बड़ी विडंबना और क्या हो सकती है कि एक ओर करोड़ों लोग जीवन के बुनियादी प्राकृतिक अधिकार और मानवीय गरिमा से वंचित होकर इलाज के अभाव और भूख से मर जा रहे हो; वहीं दूसरी ओर लापरवाह लोग आजादी का दुरुपयोग किए जा रहे हैं। देश की स्वतंत्रता के साथ औपनिवेशिक बंधन खत्म हो गए और कुछ हद तक सामंती कायदे-कानूनों से भी सुरक्षा मिली, लेकिन एक व्यवस्थित तंत्र का निर्माण न हो पाने की स्थिति में लापरवाह और अवसरवादी लोगों ने स्थिति का फायदा उठाना शुरू कर दिया। लोकतंत्र में व्यक्ति को मिलने वाली स्वतंत्रता अपने आप में दूसरों की स्वतंत्रता के प्रति एक दायित्व भी है। इस दायित्व से बेपरवाह लोगों ने अपनी स्वतंत्रता को असीमित मान लिया और दूसरों की स्वतंत्रता का अपहरण करने लगे। आजादी की पहली वर्षगांठ के अवसर पर खीज भरे स्वर में दिनकर पूछते हैं

है कहां तुम्हारी आजादी? क्या स्कूलों में,
अनुशासन लगड़ा हुआ जहां बिललाता है?
हड़ताल, कर्ण-भेदी प्रचंड कोलाहल में
है जहां गर्क भावी नेताओं के समूह?
या उस इंजिन पर जिसे ड्राइवर खड़ा छोड़
है चला गया बाजार कहीं सुरती लाने।[30]

अगर लोग अपने निर्धारित दायित्वों से भी किनारा करने लगेंगे तो लोकतंत्र कैसे चल सकता है? विडंबना यह है कि यह बेपरवाही सिर्फ दो-चार लोगों का रोग नहीं बल्कि इसने पूरे राष्ट्र को ग्रस लिया है। लालच, अवसरवाद, भ्रष्टाचार और नेतागिरी ने देश को ऊपर से नीचे तक जकड़ लिया है।

पिछले उप-अध्याय में हमने इस बात की चर्चा की थी कि दिनकर ने लोकतंत्र का जो सपना देखा था, उसमें स्वतंत्रता समानता और बंधुत्व सभी न केवल परस्पर निर्भर हैं, बल्कि वह एक दूसरे को सशक्त करते हैं। आजाद भारत में दिनकर देखते हैं कि स्वतंत्रता का बंटवारा असमान है। समानता की जगह भयावह विषमता मौजूद है और इस विषमता के चलते बंधुत्व सिरे से नदारद है। मूल्यों की इस पारस्परिकता को अनुभूत करते हुए ही भूदान के अवसर पर दिनकर ने देश के संपन्न भूस्वामियों से स्वैच्छिक रूप से जमीन देने की मांग की। उन्हें लगा कि जमीन का यह स्वैच्छिक पुनर्वितरण न केवल बेरोजगारों को काम देगा, भूमिहीनों को जमीन और भूखों को भोजन देगा, बल्कि इस समानता से सामाजिक द्वेष का भी समाधान हो सकेगा ।

जमीन दो कि देश का अभाव दूर हो सके/ जमीन दो कि द्वेष का प्रभाव दूर हो सके
जमीन दो कि भूमिहीन लोग काम पा सकें/ उठा कुदाल बाजुओं का जोर आजमा सकें।
जमीन चाहिए समाज के समत्व के लिए/ स्वराज के लिए, स्वदेश के महत्व के लिए।
मनुष्यता के मान के लिए जमीन चाहिए/ बहुत दुखी किसान के लिए जमीन चाहिए।
विपन्न निःस्व के लिए जमीन को जमीन दो/ क्षुधार्थ विश्व के लिए जमीन दो जमीन दो।[31]

किसी भी लोकतंत्र की सफलता जन-सहयोग पर निर्भर करती है। भूमि पुनर्वितरण के किसी भी कार्यक्रम को भूस्वामियों का अपेक्षित सहयोग नहीं मिला। इस असफलता का एक बड़ा कारण खुद जनप्रतिनिधियों का दोहरा चरित्र भी था। दिनकर ने अनेकशः इस बात की शिकायत की है कि नेतागण बराबरी लाने के लिए दूसरों की संपत्ति का बंटवारा कर देना चाहते हैं, लेकिन अपनी संपत्ति बचाए रखना चाहते हैं। जब जनप्रतिनिधियों द्वारा ही ऐसे धूर्तता की जाएगी तो बाकी लोग उनका अनुकरण क्यों नहीं करेंगे?[32]

आजादी की पहली वर्षगांठ के अवसर पर दिनकर ने लक्ष्य किया था कि संपन्न पश्चिमी देशों की नकल करने को ही आजादी मान लिया गया है। 25 वर्ष बीत जाने के बाद लोकतंत्र की समीक्षा करते हुए दिनकर ने पाया कि नकल और भ्रष्टाचार भारत के राजनैतिक लोकतंत्र की असफलता की सबसे बड़ी वजह रही है। लोकतंत्र के समक्ष मौजूद अनिवार्य लक्ष्य और उसे पूरा करने के रास्ते में आने वाली चुनौतियों का जिक्र करते हुए दिनकर ने लिखा है ‘‘भारत के सामने सबसे व्यावहारिक ध्येय यही हो सकता है कि वह भिखमंगी को दूर करे,

गरीबी को दूर करे, अशिक्षा और बेकारी को दूर करे, नग्नता और आवासहीनता को दूर करे। इन्हें दूर करने की जो प्रतिज्ञा सरकार ने की है, उसकी ख्याति संसार में दूर-दूर तक पहुंच गई है। मगर इन्हें दूर करेंगे कौन? क्या वे, जो अस्पताल के रोगियों के पथ्य और औषधि में कटौती कर के अपनी जेबें भरते हैं? या वे जो आर्डर लिखने के पूर्व इस इंतजार में रहते हैं कि उनके ईमान का सबसे अच्छा खरीददार कब आता है?... जिस जाति का चरित्र इतना नीचे आ गया हो, वह क्या समूह के रूप में सुखी बनाई जा सकती है? सरकार नाम तो निराकार वस्तु का है। साकार वह अपने नेताओं और अफसरों के भीतर आने पर होती है। मगर जिस सरकार का यंत्र चोरी, बेईमानी, आलस्य और अकर्मण्यता के बोझ से चरमरा रहा हो, उसकी कोई भी योजना क्या सफल हो सकती है।''[33] भारत के राजनीतिक लोकतंत्र की इस कटु आलोचना का अर्थ यह नहीं है कि लोकतंत्र मात्र से दिनकर का विश्वास उठ गया था। नेताओं और अधिकारियों के भ्रष्ट चरित्र की आलोचना दिनकर आजादी के समय से ही करते आ रहे थे। असल में दिनकर ने जिन उच्च लोकतांत्रिक मूल्यों की कल्पना की थी उन्हीं के आधार पर वह भारत के मौजूदा लोकतंत्र की आलोचना करते हैं। उक्त लेख के अंत में दिनकर यह सलाह देते हैं कि अनावश्यक सुखों का त्याग संयम और आडंबरहीनता जैसे मूल्यों और चारित्रिक गुणों के विकास के माध्यम से ही भारतीय लोकतंत्र का उद्धार हो सकता है। 'दिनचर्या' शीर्षक एक आत्मकथात्मक कविता में दिनकर ने समानता के लिए अथक प्रयास करने के साथ-साथ संयम की इसी आवश्यकता पर बल दिया है

जो सुख हैं अनिवार्य, प्राप्त हम रातों-रात करेंगे,
जहां-जहां अवरोध, वहां खुलकर आघात करेंगे।
निर्धन का धन बढ़े, घटें धनवान बात समुचित है।
पर, भोगों की तृषा जगाना बहुत-बहुत अनुचित है।
बेलगाम यदि रहा भोग, निश्चय, संहार मचेगा,
मात्र गरीबी-छाप सभ्यता से संसार बचेगा।[34]

चार दशकों से भी अधिक लंबी काव्ययात्रा के दौरान अलग-अलग समय पर दिनकर की कविताओं में अलग-अलग लोकतांत्रिक मूल्यों को अभिव्यक्ति मिली है। कई बार उनकी कविताएं परस्पर विरोधी भी नजर आती हैं। इस प्रसंग में यह बात याद रखनी चाहिए कि दिनकर का काव्य सामाजिक उथल-पुथल से दूर गुफाओं-कंदराओं में रहकर की गई अंतिम

सत्य की खोज नहीं है; और न ही वह मोहक कल्पनाओं की ऐसी उड़ान है, जिसका जमीनी हकीकत से कोई वास्ता न हो। दिनकर का काव्य जनसंघर्षों के बीच रहकर रचा गया है। उसमें कहीं जनता के पक्ष से शासक वर्ग को चुनौती है तो कहीं राष्ट्र के हित के लिए उसी जनता को दी जाने वाली हिदायतें हैं। सामने आने वाली मुश्किलों और उपलब्ध विकल्पों के बीच अलग-अलग समय में दिनकर ने जो कविताएं रची हैं, उसमें कहीं स्वतंत्रता पर अधिक जोर है, तो कहीं उसकी बेलगाम अभिव्यक्ति पर फटकार है; कहीं समानता के लिए क्रांति का आह्वान है, तो कहीं समानता को ठीक ढंग से समझे जाने की नसीहत है। अलग-अलग पढ़े जाने पर यह कविताएं कभी-कभी एकांगी भी प्रतीत हो सकती हैं, लेकिन अगर हम समग्रता में देखें तो यथार्थ के अलग-अलग पहलुओं पर लिखी गई ये कविताएं स्वयं मूल्यों का संतुलन बनाती हुई नजर आएंगी। दिनकर की कविताएं जिस लोकतांत्रिक मूल्यबोध की रचना करती हैं, उसमें जितनी महत्वपूर्ण व्यक्ति स्वतंत्रता है उतनी ही महत्वपूर्ण मनुष्यमात्र की समानता भी है; जितना जरूरी सामाजिक न्याय को स्थापित करना है, उतना ही जरूरी बंधुत्व को बढ़ावा देना भी है। स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के अलावा दिनकर की कविताओं में धर्मनिरपेक्षता, सामाजिक न्याय और लैंगिक समानता जैसे लोकतांत्रिक मूल्यों को भी अभिव्यक्ति मिली है। इन मूल्यों पर भी किंचित चर्चा जरूरी है।

धर्म निरपेक्षता

धर्मनिरपेक्षता जहां आधुनिक लोकतांत्रिक राज्य की पहचान का अपरिहार्य हिस्सा है, वहीं आचरण के धरातल पर यह समाज और व्यक्ति के लोकतांत्रिक होने लिए भी जरूरी मूल्य है। धर्मनिरपेक्षता का सार इस बात में निहित है कि सभी मनुष्य मूलतः समान हैं और धार्मिक विश्वास के आधार पर किसी के साथ पक्षपात नहीं किया जाना चाहिए। भारत जैसे बहुधार्मिक देश में धर्मनिरपेक्षता जैसे मूल्य की जरूरत स्वयं सिद्ध है। भारत जैसे देश में धर्मनिरपेक्षता की जरूरत इसलिए और भी बढ़ जाती है क्योंकि यहां केवल धर्म बहुलता ही नहीं रही है, बल्कि विभिन्न धर्मों के बीच गंभीर ऐतिहासिक टकराव भी रहे हैं। विशेषकर हिंदू-मुस्लिम टकराव एक ऐसी गंभीर समस्या रही है जिसने न केवल इतिहास को प्रभावित किया बल्कि भारत के वर्तमान को भी बुरी तरह क्षति पहुंचाई है। यूं तो अखंडता की चाह रखने वाले हर धर्मनिरपेक्ष विचारक और कलाकार ने इस समस्या पर कुछ न कुछ लिखा है, लेकिन इस दिशा

में दिनकर का योगदान अतुलनीय है। आजादी के आरंभिक वर्षों में गहन अध्ययन और परिश्रम से लिखी गई उनकी किताब 'संस्कृति के चार अध्याय' अपने आप में धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण का जीता-जागता उदाहरण है। यह दिलचस्प है कि दिनकर इतिहास में हुए धार्मिक संघर्षों को बिल्कुल नजरअंदाज नहीं करते लेकिन साथ ही वे धर्मों के बीच होने वाले संवाद पर भी लगातार नजर रखते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ऐतिहासिक टकराव की तुलना में धर्मों के बीच हुए संवाद कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि इन्हीं संवादों के जरिए भारतीय संस्कृति ने अपना रुप ग्रहण किया है। यह भी ध्यान देने की बात है कि भारत में आर्य, बौद्ध, इस्लाम और ईसाइयत के आगमन को इतिहास के चार चरणों के रूप में देखने की बजाए वे इन्हें भारतीय संस्कृति के चार अध्याय के रूप में देखते हैं। उनका अध्ययन इस बात को साबित करने में कोई कसर नहीं छोड़ता कि भारत के प्रसंग में किसी विशुद्ध आर्य अथवा हिंदू तथा मुस्लिम संस्कृति की बात करना बेमानी है। धर्म से लेकर रहन-सहन और भाषा तक जीवन के हर क्षेत्र में सम्मिश्रण हुआ है, खुद उर्दू का जन्म भी इसी सामासिक संस्कृति की एक अभिव्यक्ति है।

ऐसा बिल्कुल नहीं है कि हिंदू-मुस्लिम एकता की वकालत केवल 'संस्कृति के चार अध्याय' में ही की गई हो। पराधीन भारत में जब उन्होंने सांस्कृतिक सम्मिश्रण का उक्त अध्ययन नहीं किया था तब भी विभिन्न धर्मों के बीच एकता की जरूरत पर वे जोर दे रहे थे। इसके पीछे तात्कालिक उद्देश्य नहीं था, बल्कि यह उनके मानवतावादी धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण की ही अभिव्यक्ति थी। यह दृष्टिकोण केवल भारत और हिंदू मुसलमान तक सीमित नहीं था, बल्कि इसके दायरे में पूरी दुनिया शामिल थी। 1935 में इटली के फासीवादियों द्वारा अफ्रीका के अबीसीनिया पर आक्रमण किए जाने पर क्रुद्ध होकर दिनकर ने श्वेत नस्लवाद की निंदा करते हुए लिखा।

राइन-तट पर खिली सभ्यता, हिटलर खड़ा कौन बोले?
सस्ता खून यहूदी का है, नाजी निज स्वास्तिक धो ले।
*** *** ***
श्वेतानन स्वर्गीय देव हम! ये हब्शी रेगिस्तानी!
ईसा साखी रहें, ईसाई दुनिया ने बरछी तानी।[35]

राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्यधारा के कवि होने के कारण दिनकर की कविताओं में ऐतिहासिक पौराणिक प्रतीक बहुतायत से आते हैं। प्राथमिक रूप से हिंदी साहित्य की परंपरा से जुड़े होने के चलते दिनकर की कविताओं में आने वाले यह ऐतिहासिक-पौराणिक प्रतीक प्रायः हिंदू चरित्रों के हैं, लेकिन अन्य धर्मों से जुड़े चरित्रों की चर्चा भी उनकी रचनाओं में कम नहीं है। ईसा मसीह का उल्लेख उनकी कई कविताओं में है और बुद्ध तो उनके प्रिय नायकों में से एक हैं। इस्लाम से जुड़े कई सकारात्मक चरित्र भी उनकी रचनाओं में आए हैं। 1929 में लिखी कविता 'नई दिल्ली के प्रति' में दिनकर ने नई दिल्ली को पराधीनता का साकार प्रतीक मानते हुए उसकी तीखी भर्त्सना की है। इस कविता में दिल्ली का मानवीकरण करते हुए उसे एक परकीया स्त्री के रूप में चित्रित किया गया है जो अपने स्वामी के गुजर जाने के बाद परदेसियों के साथ बेशर्मी से गलबहियां कर रही है। ध्यान देने की बात यह है कि इस कविता में दिल्ली के शासकों के तौर पर पांडवों के अलावा जितने भी चरित्र आए हैं वे सभी मुसलमान शासक हैं। इन शासकों में केवल अकबर, शाहजहां या बहादुरशाह जैसे अपेक्षाकृत स्वीकार्य मान लिए गए शासकों के ही नाम नहीं है, बल्कि बाबर और औरंगजेब जिनका नामोल्लेख प्रायः असुविधाजनक माना जाता है उनके नाम भी प्रशंसापूर्वक लिए गए हैं। दिल्ली को उसकी निर्लज्जता के लिए डपटते हुए कवि कहता है 'गौरव के गुरु रो न पड़े, हां/ दिल्ली घुंघट क्यों न गिराती?/ बाबर है, औरंग यहीं है/ मदिरा औ' कुलटा का द्रोही।'[36] इसी तरह 'परशुराम की प्रतीक्षा' में दिनकर जिस भाव से भगतसिंह को याद करते हैं ठीक उसी भाव के साथ अशफाक उल्लाह और उस्मान को भी याद करते हैं

'खोजो, टीपू सुलतान कहां सोए हैं? / अशफाक और उसमान कहां सोए हैं?
बम वाले वीर जवान कहां सोए हैं? / वे भगत सिंह बलवान कहां सोए हैं?
जा कहो, करें अब कृपा, नहीं रुठें वे / बम उठा बाज के सदृश व्यग्र टूटें वे।[37]

यह एक ऐतिहासिक विडंबना ही कही जाएगी कि जैसे-जैसे राष्ट्रीय आंदोलन अपने चरम पर पहुंचा वैसे-वैसे सांप्रदायिकता भी बढ़ती गई और देश की आजादी के साथ बंटवारे का जख्म भी मिला। आजादी के ठीक पहले भड़क उठे सांप्रदायिक दंगों ने दिनकर को बेचैन कर दिया। गहरी व्यथा के साथ उन्होंने लिखा

ओ बदनसीब! इस ज्वाला में/ आदर्श तुम्हारा जलता है,
समझाएं कैसे तुम्हें कि/ भारतवर्ष तुम्हारा जलता है?
जलते हैं हिंदू-मुसलमान/ भारत की आंखें जलती हैं
आनेवाली आजादी की/ लो! दोनों पाखें जलती हैं।[38]

सांप्रदायिकता और बंटवारे के विरोध में बहुत से साहित्यकारों ने लिखा है लेकिन दिनकर की विशेषता यह है कि वे बंटवारे के ऐतिहासिक सत्य को नियति मानकर स्वीकार नहीं कर पाते। आजादी का उल्लास मनाते देशवासियों को वह बार-बार समझाते हैं कि इस आजादी को अंतिम लक्ष्य न मानें। आजादी हमारे लिए एक चुनौती की तरह है, देश के विकास और समानता की प्राप्ति के साथ-साथ जिस एक और लक्ष्य को दिनकर सामने रखते हैं, वह है दोनों देशों को पुनः एक कर देना।

मां का आंचल है फटा हुआ/ इन दो टुकड़ों को सीना है
देखें, देता है कौन लहू/ दे सकता कौन पसीना है?[39]

दिनकर की काव्य यात्रा पर नजर डालें, तो यह बात बिल्कुल स्पष्ट दिखाई देती है कि एक और जहां सांस्कृतिक प्रतीकों के प्रति उनमें अतिशय लगाव है वहीं इन प्रतीकों को वे भारतीय प्रतीक मानकर ही इस्तेमाल करते हैं, हिंदू या मुसलमान प्रतीक मानकर नहीं। दिनकर ने अपने पूरे साहित्य में एकता के लिए राष्ट्रवाद और वर्गीय चेतना का जमकर इस्तेमाल किया है, लेकिन ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है जबकि उन्होंने धर्म के आधार पर एकजुट होने के लिए प्रेरित किया हो। धर्म तर्क का नहीं आस्था और अनुभूति का विषय है इसीलिए इसे व्यक्तिगत ही रहने दिया जाना चाहिए। अपने धर्म को दूसरे के धर्म से श्रेष्ठ समझने का अहंकार रक्तपात को जन्म देता है इसीलिए समाजद्रोही ताकतों के लिए यह धर्मोन्माद सबसे आसान चारागाह बन जाता है। 'हिमालय का संदेश' शीर्षक कविता में युद्ध देवता इस धर्मोन्माद को अपनी शिक्षाओं का सार बताता है

मेरी शिक्षा का सार, एक अपनेपन का सत्कार करो
जो धर्म, जाति, कुल हो अपना, तुम केवल उससे प्यार करो।
सबसे अच्छा विश्वास जिसे तुमने पुरखों से पाया है,
सबसे अच्छा है धर्म वही जिसको तुमने अपनाया है।
खुलकर विधर्मियों पर करते जाओ हालाहल का वर्षण।[40]

यह बात गौरतलब है कि दिनकर नास्तिक नहीं धार्मिक थे, लेकिन उनकी कविता का मूल स्वर धर्मनिरपेक्ष है और ठीक इसीलिए उनकी कविता राष्ट्रीय कविता बन सकी है। एक और जहां उन्होंने निर्भ्रांत भाव से विभिन्न धर्मों की मानवविरोधी रूढ़ियों की आलोचना की है, वहीं विभिन्न धर्मावलंबियों के बीच साझेपन और एकता की जरूरत पर जोर भी दिया है।

सामाजिक न्याय का प्रश्न और जातिवाद

किसी देश द्वारा लोकतंत्र को एक शासन प्रणाली के रूप में स्वीकार कर लेना एक बात है और समाज का लोकतंत्रीकरण बिल्कुल ही दूसरी बात है। आजादी के सात दशक बीत जाने के बाद हम इस सच्चाई को और गहराई से महसूस कर सकते हैं। भारतीय लोकतंत्र में सभी नागरिक समान हैं जिसकी सुस्पष्ट अभिव्यक्ति सार्विक मताधिकार और कानून के समक्ष समानता जैसे अधिकारों के जरिए होती है। सामाजिक असमानता की मौजूदगी में यह सैद्धांतिक समानता किस तरह निरर्थक हो जाती है, इसके सबसे बड़े उदाहरण लिंग भेद और जातिवाद हैं। कानून और प्रशासन का औपचारिक दायरा नागरिकों के रोजमर्रा के आपसी सामाजिक संबंधों का नियमन नहीं कर सकता। सामाजिक संरचना में निहित भेदभाव के जरिए होने वाले अन्याय के उपचार के लिए सामाजिक न्याय की अवधारणा अस्तित्व में आई। जातिवाद भारतीय लोकतंत्र के सामने मौजूद सबसे गंभीर चुनौतियां में से एक है। यह न केवल अवमानना और शोषण को जन्म देता है, बल्कि इसके रहते हुए सभी नागरिकों के बीच समानता और एकता की कल्पना करना असंभव है क्योंकि यह व्यक्ति के सामाजिक संबंधों के दायरे को जाति के भीतर सीमित कर देता है। ऐसे में व्यक्ति की संवेदना और सहानुभूति का दायरा भी जाति तक सीमित होता है। लोकतंत्र की उपलब्धियों और सीमाओं के बारे में बात करते हुए दिनकर ने अपने लेख 'लोकतंत्र कुछ विचार' में जातिवाद की इसी विशेषता की ओर इशारा किया है। वे लिखते हैं कि

> भारत में जनसंख्या के अलावा एक बुराई और है। हम सभी लोग जातों में बंटे हैं और हमारा भाव है कि आदमी अगर हमारी जात का है, तो वह खूबसूरत भी है और ईमानदार भी। और अगर वह हमारी जात का नहीं है, तो वह निश्चय ही बदसूरत और बेईमान होगा। हमारे ग्रामीण मतदाता यह कहने में तनिक भी नहीं शरमाते कि वोट और बेटी अपनी ही जात में देनी चाहिए। और जो हाल ग्रामों का है शहरों की उससे बहुत भिन्न दशा नहीं है।[41]

ऐसे में न तो निष्पक्ष चुनाव की कल्पना की जा सकती है और न ही पक्षपात रहित प्रशासन की। राष्ट्रीय एकता के प्रबल पक्षधर दिनकर के लिए जाति के सवाल से टकराना स्वाभाविक ही था।

जाति के प्रश्न पर दिनकर के दृष्टिकोण की विस्तृत चर्चा हम दलित प्रश्न से संबंधित उप-अध्याय में कर चुके हैं, अतः यहां संक्षिप्त चर्चा ही उपयुक्त होगी। 'रेणुका' में प्रकाशित 'बोधिसत्व' जाति के प्रश्न पर संभवत दिनकर की पहली कविता है। भारतीय इतिहास में जातिवाद के विरुद्ध संघर्ष के सबसे बड़े नायकों में बुद्ध एक है। जब गांधीजी ने अछूतोद्धार कार्यक्रम आरंभ किया तो बहुत से रुढ़िवादी हिंदू उनके खिलाफ हो गए। 1934 में देवघर की यात्रा के दौरान गांधी के ऊपर हमले की घटना हुई जिससे क्षुब्ध होकर दिनकर ने यह कविता लिखी। 'तांडव' और 'विपथगा' की तरह ही इस कविता में भी समाधान की कोई दिशा नहीं है, अत्याचार का अंत करने के लिए बोधिसत्व का आह्वान भर है। जातिगत उत्पीड़न के सवाल को भी इस कविता में गांधीवादी दृष्टि से देखा गया है। कविता में दलितों पर होने वाले जिन अत्याचारों का जिक्र है वह हैं अस्पृश्यता और मंदिर प्रवेश पर रोक।

जाति प्रश्न पर दिनकर की सबसे महत्वपूर्ण रचना 'रश्मिरथी' है। इस प्रबंधात्मक कृति में न केवल जाति के सवाल को अवसरों की असमानता से जोड़कर देखा गया है, बल्कि जाति को मनुष्य की मूलभूत पहचान मानने वाले दृष्टिकोण की घनघोर भर्त्सना की गई है। जातिवाद के विरुद्ध ऐसा तीखा स्वर तत्कालीन साहित्य में दुर्लभ है। कर्ण जातिवाद को पाखंडियों की पूंजी बताते हुए व्यक्ति को उसके अपने गुणों और कर्मों से पहचानने का आग्रह करता है 'जाति-जाति रटते रहते पूंजी जिनकी पाखंड/ मैं क्या जानूं जाति, जाति हैं ये मेरे भुजदंड।' अपनी कतिपय सीमाओं के बावजूद 'रश्मिरथी' दलित विमर्श के आगमन से पहले रचित जातिवाद विरोधी श्रेष्ठतम काव्य रचनाओं में से एक है। रश्मिरथी का महत्व इस बात में निहित है कि इसमें प्रचंड तार्किकता ही नहीं गहरी मार्मिकता भी है। गांधीजी की कतिपय मान्यताओं के स्वीकार के बावजूद इस रचना में समस्या के प्रस्तुतीकरण और समाधान में गांधीवाद या किसी अन्य वाद का कोई प्रभाव नहीं दिखता। निःसंदेह यह बात सही है कि इसमें अस्पृश्यता और गरीबी समेत जातिवादी हिंसा के बहुत से रूपों को नहीं उठाया गया है क्योंकि कर्ण की कथा मेहनतकश तबके की नहीं, बल्कि राज परिवारों के चित्रण का ही

अवसर देती है। लेकिन अपने इस रूप में कर्ण की पीड़ा सांकेतिक रूप से जातिगत पेशों और गांवों से बाहर निकल चुके उन शिक्षित दलितों की पीड़ा को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करती है, जिन्हें अभिजात लोगों की सोच के कारण भेदभाव और कटाक्षों का सामना करना पड़ता है। दलित विमर्श के नजरिए से देखें तो इस कृति में बहुत सी समस्याएं तलाशी जा सकती हैं, लेकिन तब भी इसका ऐतिहासिक महत्व बना रहेगा। सामाजिक न्याय के लिहाज से दिनकर उन गिने-चुने कवियों में से एक है जिन्होंने हिंदी कविता की अभिजात्य भरी साफ-सुथरी दुनिया के भीतर जातिवाद की वीभत्सता का सवाल प्रभावशाली ढंग से उठाया।

'रश्मिरथी' के अलावा 'कुरुक्षेत्र' में भाग्यवाद और कर्मफल की आलोचना और 'हिमालय का संदेश' शीर्षक कविता में जाति श्रेष्ठता के अहंकार की निंदा की गई है, तो वहीं 'परशुराम की प्रतीक्षा' में गुण के मुकाबले गोत्र को वरीयता देने वाले लोगों को देश के पतन का कारण माना गया है।

लैंगिक समानता

जेंडर आधारित भेदभाव और उत्पीड़न दुनिया भर के तमाम पितृसत्तात्मक समाजों की विशेषता है। जाहिर है यह जाति, धर्म और लिंग के आधार पर किसी भी व्यक्ति के साथ भेदभाव ना करने वाले लोकतांत्रिक सिद्धांत के विपरीत है। अगर हम ध्यान दें तो पाएंगे कि भारत में नवजागरण का आरंभ ही स्त्रियों पर होने वाले अमानवीय अत्याचारों की मुखालफत करते हुए हुआ था, लेकिन एक तो नवजागरण का मूल स्वर सुधारवादी था दूसरी तरफ प्रायः इन सुधारवादी आंदोलन का नेतृत्व पुरुष सुधारकों के हाथ में रहा। परिणामस्वरुप उन्होंने स्त्रियों से जुड़ी समस्याओं को भी पुरुषों के दृष्टिकोण से उठाया। हिंदी क्षेत्र में न केवल यह नवजागरण देर से पहुंचा बल्कि यहां सुधारों का स्वर और भी मंद रहा। इस पृष्ठभूमि का प्रभाव खुद दिनकर पर भी दिखाई देता है। तमाम सामाजिक रूढ़ियों पर खुलकर चोट करने वाले दिनकर स्त्रियों के सवाल पर अक्सर द्वंद्वग्रस्त नजर आते हैं। स्त्री प्रश्न से संबंधित उप-अध्याय में हमने दिनकर के दृष्टिकोण की विस्तृत समीक्षा की है। उसके विस्तार में न जाकर हम यहां संक्षेप में लैंगिक समानता के लोकतांत्रिक मूल्य की दृष्टि से दिनकर के काव्य की समीक्षा करेंगे।

दिनकर के काव्य में स्त्रियों की उपस्थिति पर्याप्त मात्रा में है। इस उपस्थिति का एक छोटा सा अंश गरीबी और परिवार की अन्यान्य समस्याओं तथा युद्ध की विभीषिका झेलती स्त्रियों से संबंधित है। दूसरा उल्लेखनीय अंश मातृत्व की गरिमा और महिमा गायन से संबंधित है, लेकिन उसका सबसे बड़ा हिस्सा प्रेम कविताओं का है जिन स्थलों पर दिनकर स्त्रियों की समस्याओं की चर्चा करते हैं वहां पर उनका दृष्टिकोण सुधारवादी नजर आता है। स्त्रियों की दीन दशा पर करुणा पैदा करना ही ऐसी कविताओं में दिनकर का उद्देश्य रहा है। इसके विपरीत जिन कविताओं में दिनकर स्त्रियों के प्रेयसी रूप की चर्चा करते हैं। वहां लैंगिक भेदभाव और उत्पीड़न उनकी दृष्टि से ओझल हो जाते हैं।

मैथिलीशरण गुप्त के सुधारवादी दृष्टिकोण से व्यापक प्रभाव ग्रहण करने के बावजूद दिनकर ने अपनी कई रचनाओं में ऐसे सवालों को उठाया जो द्विवेदीयुगीन नैतिकता की सीमाओं से बहुत आगे हैं। उदाहरण के लिए 'रश्मिरथी' में कुंती के विवाहेतर संबंध और अवैध संतान का प्रश्न भी एक ऐसा ही मुद्दा है। यह दिलचस्प है कि कुंती के इस कृत्य को स्वीकृति दिलाने के लिए दिनकर न केवल उसे दीन-हीन रुप में, बल्कि अपराध बोध से ग्रस्त स्त्री के रुप में प्रस्तुत करते हैं। लेकिन कर्ण या सूर्य के मुख से कहीं भी कुंती की निंदा नहीं कराई गई है। कर्ण का आक्रोश खुद को त्याग दिए जाने के कारण है, कुंती के विवाहेतर संबंध को लेकर उसके मन में कोई शिकायत नहीं है। इसके उलट कुंती और सूर्य का संबंध उसकी दृष्टि में प्रेम संबंध है। उसे प्रेम में कुंती की कायरता निंदनीय लगती है और वह कहता है 'पर सह विपत्ति की मार अड़ी रहतीं तुम/ जग के समक्ष निर्भीक खड़ी रहतीं तुम/ पी सुधा जहर को देख नहीं घबरातीं/ था किया प्रेम तो बढ़कर मोल चुकातीं।[42]

पितृसत्तात्मक समाज में किसी संतति के लिए अवैध होने से ज्यादा अपमानजनक स्थिति कोई और नहीं हो सकती। ऐसी संतति का अस्तित्व ही एक गाली होता है। कर्ण का आक्रोश अवैधता को लेकर है लेकिन यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि दिनकर ने इस तथाकथित अवैध पात्र को अपने काव्य का नायक बनाया। सच तो यह है कि दिनकर साहित्य में कर्ण की गरिमा से तुलनीय अन्य कोई नायक नहीं है। इस लिहाज से दिनकर की तुलना प्रेमचंद से की जा सकती है जिन्होंने सदियों से अपमानित जीवन जी रहे दलितों को अपनी

रचनाओं में नायकत्व प्रदान किया था। दिनकर ने कर्ण को एक ऐसे समूह का आदर्श नायक बनाया है, जिसकी पीड़ा अब तक कहीं नहीं सुनाई गई थी। खुद कर्ण के शब्दों में

मैं उनका आदर्श, कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे,
पूछेगा जग; किंतु, पिता का नाम न बोल सकेंगे।
जिनका निखिल विश्व में कोई कहीं ना अपना होगा,
मन में लिए उमंग जिन्हें चिर-काल कलपना होगा।[43]

रश्मिरथी की तरह ही 'उर्वशी' में भी कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न उठाए गए हैं जिनके ऊपर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया गया है। पहला प्रश्न है प्रेम की स्वतंत्रता का और दूसरा सेक्सुअलिटी का। दिनकर ने स्वतंत्रता का संबंध प्रेम करने की स्वतंत्रता से भी जोड़ा था। 'रोटी और स्वाधीनता' शीर्षक कविता में उन्होंने लिखा था

स्वातंत्र्य सोचने का हक है, जैसे भी मन की धार चले,
स्वतंत्र प्रेम की सत्ता है, जिसको हृदय का प्यार चले।
स्वातंत्र्य बोलने का हक है, जो कुछ दिमाग में आता हो,
आजादी है यह चलने की, जिस ओर हृदय ले जाता हो।[44]

'उर्वशी' में दिनकर ने प्रेम की स्वतंत्रता का प्रश्न अपेक्षाकृत ठोस धरातल पर उठाया है, लेकिन इसकी जटिलताओं और परिणतियों पर विचार करने से उन्होंने पीछा छुड़ा लिया। कुंती की तरह ही पुरुरवा का प्रेम भी विवाहेतर प्रेम है, जिसे लेखक ने न केवल स्वीकृति दी है, बल्कि महिमामंडित भी किया है। उर्वशी में इस बात के पर्याप्त संकेत दिए गए हैं कि विवाह के बावजूद प्रेम हो सकता है और यह प्रेम गर्हित नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक पूर्णता प्रदान करता है। समस्या यह है कि वह स्त्री पक्ष से ऐसी ही स्थिति का मूल्यांकन नहीं करते। इस प्रेम से पत्नी को होने वाले कष्टों का उपचार क्या है? अगर ऐसा ही प्रेम पत्नी को भी हो जाए तो क्या उसे भी दिनकर ऐसी ही स्वतंत्रता देने का पक्ष लेंगे? फिर विवाह संस्था का क्या होगा? एक लोकतांत्रिक समाज में इस समस्या का समाधान क्या प्रेम की स्वतंत्रता पर रोक लगाने में निहित है अथवा हमारे मौजूदा विवाह संबंधों को अधिक उदार बनाने की जरूरत है?

भारतीय समाज में सेक्सुअलिटी एक वर्जित विषय माना जाता है। ऐसे में 'उर्वशी' का एक बड़ा महत्व कुंठाहीन होकर सेक्सुअलिटी के सवाल को उठाने में निहित है। कामाध्यात्म से जुड़ी उलझन को अगर हम दरकिनार कर दें तो हिंदी साहित्य में 'उर्वशी' संभवतः पहली कृति है जो प्रचलित नैतिकतावाद से आतंकित हुए बिना सेक्सुअलिटी के सवाल पर वैज्ञानिक ढंग से विचार करती है। 'उर्वशी' में बहुत स्पष्ट ढंग से कहा गया कि काम अपने आप में पुण्य या पाप नहीं है। काम तो प्राकृतिक और स्वाभाविक है, काम में अंतर्निहित नीयत ही उसे सही या गलत बनाती है। जब काम दो मनुष्यों को आत्मीय बनाता है तब वह दिव्य होता है और जब वह कुंठा की अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट होता है तो अपराध बन जाता है।

मन जब हो आसक्त काम से लभ्य अनेक सुखों पर
चिंतन में भी उन्हीं सुखों की स्मृति ढोए फिरता है
विकल, व्यग्र, फिर-फिर, रस-मधु में अवगाहन करने को
स्नेहाकृष्ट नहीं, तो यत्नों से, छल से, बल से भी
तभी काम से बलात्कार के पाप जन्म लेते हैं,
तभी काम दुर्द्धर्ष, दानवी किल्विष बन जाता है।
काम-कृत्य वे सभी दुष्ट हैं, जिनके संपादन में
मन-आत्माएं नहीं, मात्र दो वपुस् मिला करते हैं।[45]

ऐसा प्रतीत होता है कि नारीवादियों का यह आरोप सही है कि पितृसत्तात्मक पूर्वाग्रह हिंदी आलोचना में भी मौजूद रहे हैं। शायद यही वजह है कि लैंगिक समानता से जुड़े हुए मुद्दों को इतने प्रभावशाली और सुस्पष्ट ढंग से उठाने के बावजूद हिंदी आलोचना में उसकी गंभीर चर्चा नहीं हुई। 'रश्मिरथी' और 'उर्वशी' से जुड़े उक्त प्रसंग यह बताने के लिए पर्याप्त हैं कि नारीवादी चिंतन के आलोक में हिंदी की साहित्यिक परम्परा के पुनर्मूल्यांकन की जरूरत कितनी ज्यादा है।

लोकतंत्र, राष्ट्रवाद और हिंसा का प्रश्न

राष्ट्रवाद और लोकतंत्र पर विस्तृत चर्चा हम पीछे कर चुके हैं। हमने देखा कि दिनकर के काव्य में राष्ट्रवादी भावनाएं बहुत प्रबलता से व्यक्त हुई हैं और उनके काव्य में लोकतांत्रिक मूल्यों को भी बहुत प्रभावशाली अभिव्यक्ति मिली है, लेकिन इन दोनों भावनाओं का आपसी रिश्ता क्या है? हिंसा और अहिंसा के प्रश्न से इन दोनों का क्या संबंध है? क्या ये भावनाएं एक दूसरे को समृद्ध करती हैं, अथवा उनका रिश्ता विरोध का है? अगर यह रिश्ता विरोध का है तो क्या दिनकर का काव्य अंतर्विरोध या द्वंद्वग्रस्त है? दिनकर के काव्य में मौजूद इन अंतर्विरोधों पर आलोचकों का ध्यान गया है लेकिन उनके निष्कर्ष समस्या को सुलझाने की बजाय उलझाते ही हैं। स्थिति की गंभीरता को समझने के लिए कुछ उदाहरणों की चर्चा उपयोगी होगी। उदाहरण के लिए, डॉक्टर शंभुनाथ सिंह की पुस्तक 'धूपछांही दिनकर' मूलतः दिनकर के अंतर्विरोधों पर ही केंद्रित है।[46] लेकिन एक तो इस किताब में दिनकर की रचनाओं के मुख्य वैचारिक और मूल्यगत अंतर्विरोधों की चर्चा नहीं की गई है, वहीं दूसरी ओर अंतर्विरोधी स्थितियों के सहअस्तित्व (धूप छांह) को महान रचनाकारों के साहित्य की विशेषता मान लिया गया है।[47] इसी तरह मार्क्सवादी लेखक मन्मथनाथ गुप्त दिनकर के अंतर्विरोधों की समस्या को मजाक में उड़ाते हुए लिखते हैं "कहा गया है पूर्वापर संगति गदहे का (और मैं इसमें जोड़ूंगा क्रांतिकारियों का) ही गुण है। दिनकर में पूर्वापर संगति ढूंढने पर कुछ हाथ नहीं लगने का, क्योंकि वे साहित्य-गगन के दिनकर हैं, जिनसे निरंतर ऊर्जा की ही निरंतर वर्षा हो रही है। फिर कौन ऐसा महाकवि है जिसमें पूर्वापर संगति है?"[48]

यह सही है कि अंतर्विरोध सभी में होते हैं, लेकिन अंतर्विरोधों के सभी पहलू समान रुप से सही नहीं होते। ऐसे में यह बताना जरूरी है कि कौन सा पहलू सही है और कौन सा गलत। जहां दिनकर के आलोचक अंतर्विरोध के किसी एक पहलू को उठाकर ही उसके लिए दिनकर की आलोचना करते हैं, वहीं उनके प्रशंसक भी द्वैत के मनचाहे पहलू को मुख्य और अनचाहे पहलू को गौण मानकर अंतर्विरोध की उपेक्षा कर देते हैं। उदाहरण के लिए सावित्री सिन्हा ने 'युगचारण दिनकर' में 'कुरुक्षेत्र' को दिनकर की केंद्रीय रचना मानकर उनपर गांधी के प्रभाव को खारिज करते हुए लिखा "गांधी दर्शन को, निर्बल की क्षमा और दया के सुघर

बेल-बूटों से 'अजा धर्म' को सजाने वाला दर्शन मानकर दिनकर उस प्रचंड मानव के अन्वेषी बने जिसकी सांसों पर प्रभंजन नृत्य करे और जिसके इशारों पर इतिहास बदल जाए। जिसके हाथों में अमृत कलश और धर्मध्वज हो, परंतु जो झंझा सा बलवान और काल सा क्रोधी भी हो... मेरे विचार से तो कुरुक्षेत्र में आकर दिनकर का द्वंद समाप्त हो गया है। अभी तक जीवन के विभिन्न प्रश्नों और समस्याओं के प्रति जो विरोधी दृष्टिकोण उनके सामने आ रहे थे, कुरुक्षेत्र में उनके सत्यासत्य का निर्णय हो गया है।''[49] क्या सचमुच स्थिति इतनी सरल और सपाट है? अगर ऐसा है तो आजादी के बाद के दौर में दिनकर की कविताओं में बार-बार गांधी का प्रशंसापूर्वक उल्लेख क्यों आता है? आजादी के बाद दिनकर ने शांति के पक्ष में ढेर सारी कविताएं क्यों लिखी हैं? अगर 'कुरुक्षेत्र' में दिनकर अंतिम निष्कर्ष पर पहुंच गए थे, तो फिर उर्वशी क्या है? अंतर्विरोधों की वजह और प्रकृति को ठीक से न समझ पाने और श्रद्धा के अतिरेक के चलते ही ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है। अंतर्विरोधों को छुपाने की इस पद्धति की परिणति बड़ी विडंबनाजनक होती है। 'कुरुक्षेत्र' और 'उर्वशी' के संबंध पर सावित्री सिन्हा ने लिखा है कि ''मेरे विचार से तो कुरुक्षेत्र और उर्वशी एक ही प्रतिपाद्य के अलग-अलग ऐंगिल से लिए हुए दो चित्र हैं।''[50] मेरे ख्याल से इस अद्‌भुत निष्कर्ष पर टिप्पणी की जरूरत नहीं है।

किसी सार्थक वस्तुगत निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए सबसे पहले तो यह जरूरी है कि हम ईमानदारी से स्वीकार करें कि दिनकर के साहित्य में यह अंतर्विरोधी स्थितियां मौजूद हैं। उनके काव्य में लोकतांत्रिक मूल्य भी हैं और उग्र राष्ट्रवाद भी, गांधीवाद है तो मार्क्सवाद भी है और इन दोनों का बारी-बारी विरोध भी उनके काव्य में है। अहिंसा का प्रबल समर्थन है, तो उसकी घनघोर निंदा भी है। युद्ध है, तो शांति की आकांक्षा भी है और सबसे बड़ी मुश्किल यह है कि इनमें पूर्ववर्ती और परवर्ती जैसा स्पष्ट विभाजन नहीं है, बल्कि दोनों ही दौर में यह उनके काव्य में मौजूद रही हैं। राष्ट्रवाद और लोकतंत्र के बीच संबंध का सवाल अपेक्षाकृत आसान है। 'राष्ट्रवाद' शीर्षक उप-अध्याय में हमने विस्तार से दिनकर के राष्ट्रवाद पर चर्चा की है और यह देखा है कि दिनकर के काव्य में राष्ट्रवाद के दो रूप मौजूद हैं। एक उग्र राष्ट्रवाद जो 'रेणुका' और 'हुंकार' की कुछ कविताओं और परवर्ती दौर में 'परशुराम की प्रतीक्षा' तथा कुछ अन्य कविताओं में देखने को मिलता है तथा दूसरा शांतिप्रिय राष्ट्रवाद जो

उक्त कविताओं को छोड़कर अन्य राष्ट्रीय कविताओं में मिलता है। राष्ट्र हितों पर संकट की स्थिति में दिनकर उग्र राष्ट्रवादी रूप अपना लेते हैं, जबकि सामान्य स्थितियों में उनकी कविताएं शांतिप्रिय राष्ट्रवाद को व्यक्त करती हैं, जिसका अंतर्राष्ट्रीयतावाद या मानवतावाद से कोई विरोध नहीं है; बल्कि यह राष्ट्रवाद मानवतावाद का पूरक बन जाता है। हर व्यक्ति के लिए मनोनुकूल ढंग से जीने सोचने और बोलने का अधिकार प्रेम और विश्वशांति इस राष्ट्रवाद के अनिवार्य तत्व हैं। इस रूप में यह राष्ट्रवाद लोकतंत्र का विरोधी नहीं बल्कि उसका पर्याय है।

जहां तक उग्र राष्ट्रवाद का प्रश्न है, वह लोकतंत्र का विरोधी प्रतीत होता है। ऐसी कविताओं में विश्वशांति तो क्या, शांति मात्र की निंदा की गई है। इन कविताओं में न केवल लोकतांत्रिक अधिकार स्थगित दिखाई देते हैं, बल्कि कोमल भावनाओं तक के दमन का प्रयास दिखाई देता है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में संकलित एक कविता की आरंभिक पंक्ति ही है 'अरे उर्वशीकार कविता की गर्दन पर धर कर पांव खड़ा हो'। इस भाव की कुछ अन्य कविताओं में हड़ताल का विरोध और लोगों को अनुशासनबद्ध रहने की चेतावनी दी गई है। जाहिर है इन्हें लोकतांत्रिक कहने में काफी मुश्किल है। इस प्रसंग में दो बातें ध्यान रखने की हैं। पहले तो यह कि आजादी के बाद की कई कविताओं और निबंधों में दिनकर ने खुद राष्ट्रवाद की कड़ी आलोचना की है और उसे विश्व मानवता की राह में बाधा बताया है। राष्ट्रवाद की आलोचना करने वाली ऐसी कविताएं चीन आक्रमण के पहले भी लिखी गई हैं और उसके बाद भी। असल में चीन-आक्रमण के बाद आवेश का दौर बीत जाने के बाद दिनकर ने फिर कभी उग्र राष्ट्रवाद से संबंधित कविताएं लिखी ही नहीं। यह भी गौरतलब है, जहां उग्र राष्ट्रवादी कविताओं में न केवल भावनाओं की प्रबलता मिलती है, बल्कि कहीं-कहीं तो पाशविकता और पागलपन को भी श्रेयस्कर कहा गया है; वहीं राष्ट्रवाद का खंडन करने वाली कविताओं में संवेदनशीलता के साथ-साथ तर्क और विवेकपरकता भी मिलती है। 'हिमालय का संदेश' शीर्षक कविता में युद्ध को 'राष्ट्रवाद का सखा' कहा गया है और राष्ट्रवाद को विश्वमानव के जन्म लेने में बाधक बताया गया है।[51] तो वहीं 'राष्ट्र देवता का विसर्जन' शीर्षक अत्यंत महत्वपूर्ण कविता में जहां एक ओर राष्ट्र को मुक्ति संग्राम हेतु प्रेरित करने, आजादी दिलाने और सबसे बढ़कर गौरव की भावना पैदा करने के लिए राष्ट्रवाद की अभ्यर्थना की गई है,

वहीं यह भी कहा गया है कि प्रलय पूरा हो चुका अब राष्ट्रवाद को विदा हो जाना चाहिए क्योंकि इससे पैदा होने वाला अहंकार और द्वेष अगर जारी रहा तो खुद राष्ट्र के लिए संकट बन जाएगा

शंका की यह आग नहीं क्या बुझ पाएगी?
देशों की दीवार तोड़ तुम जी न सकोगे?
फैल रहा है जहर तुम्हारा जो धरती पर,
राष्ट्रदेवता! उसे पुनः तुम पी न सकोगे?[52]

राष्ट्रवाद की सबसे तीखी आलोचना 'कोयला और कवित्व' शीर्षक लंबी कविता में मिलती है। विश्वशांति और विश्व-मानवता के लिए चिंता प्रकट करते हुए इस कविता में राष्ट्रवाद को न केवल उपयोगितावादी स्वार्थपरता बताया गया है, बल्कि उसकी तुलना पशु धर्म से की गई है। दिनकर की यह पंक्तियां बहुत संक्षेप में राष्ट्रवाद की बहुत गंभीर आलोचना प्रस्तुत करती हैं

टिकने देती भैंस नहीं बाहर वाली भैंसों को,
अपने खूंटे से धकेल कर बाहर कर देती है;
यही भाव विकसित, प्रशस्त होकर नर की भाषा में
राष्ट्र, राष्ट्र का प्रेम, राष्ट्र का गौरव कहलाता है।[53]

इन कविताओं में व्यक्त संतुलित दृष्टिकोण इस बात का संकेत है कि लोकतंत्र और विश्वशांति दिनकर की सुचिंतित कामनाएं थीं। समस्या सिर्फ एक है। दिनकर ने राष्ट्रवाद की तीखी सैद्धांतिक आलोचना तो की है, लेकिन उन्होंने कहीं भी 'हुंकार' या 'परशुराम की प्रतीक्षा' में व्यक्त परिस्थितिजन्य उग्र राष्ट्रवाद की आलोचना करना तो दूर, उसे भूल भी नहीं माना है; बल्कि अक्सर आपद्धर्म का नाम देकर उसका औचित्य-निरूपण ही किया है। इसका अर्थ यह हुआ कि दिनकर की दृष्टि में राष्ट्रवाद एक बुरी चीज तो है, लेकिन यह एक ऐसी अनिवार्य बुराई है जो संकटकाल में अपरिहार्य बन जाती है। जाहिर है यहां सवाल नीति का नहीं, रणनीति का है। नैतिक दृष्टि से गलत मानते हुए भी रणनीति को सही ठहराने के लिए दिनकर ने उसे आपद्धर्म जैसा मोहक नाम दिया है। यह स्पष्ट तौर पर अंतर्विरोध का उदाहरण लगता है, लेकिन आगे चलकर हम देखेंगे कि दिनकर मूलतः जिस नीति पर

आजीवन चलते रहे उसके लिहाज से यह कोई अंतर्विरोध नहीं, बल्कि उस नीति का अपरिहार्य परिणाम था।

दिनकर के ऊपर गांधीवाद का प्रभाव था या मार्क्सवाद का, इस प्रश्न पर आलोचकों ने काफी उर्जा खर्च की है, हालांकि दिनकर ने बहुत बेलाग शब्दों में अपने ऊपर गांधीवाद और मार्क्सवाद दोनों के गहरे प्रभाव को स्वीकार किया है। ज्ञानपीठ पुरस्कार ग्रहण करने की अवसर पर दिए गए अपने भाषण का अंत दिनकर ने इन शब्दों के साथ किया था ''जिस तरह मैं जवानी भर इकबाल और रवींद्र के बीच झटके खाता रहा, उसी प्रकार मैं जीवन-भर गांधी और मार्क्स के बीच झटके खाता रहा हूं। इसीलिए उजले को लाल से गुणा करने पर जो रंग बनता है, वही रंग मेरी कविता का रंग है। मेरा विश्वास है कि अंततोगत्वा यही रंग भारतवर्ष के व्यक्तित्व का भी होगा।[54] कोई भी व्यक्ति किन्ही दो दार्शनिकों या राजनीतिज्ञों से प्रभावित हो सकता है, इसमें कोई अजीब बात नहीं है फिर इस स्पष्ट स्वीकारोक्ति के बाद आलोचकों को इस सवाल पर मेहनत क्यों करनी पड़ी?

ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि यह प्रश्न बौद्धिक से कहीं अधिक राजनीतिक प्रश्न है। प्रायः आलोचकों ने गांधीवाद को दिनकर के आरम्भिक भटकाव या वैचारिक अस्पष्टता के रूप में लिया है। भारतीय राजनीति में भले कांग्रेस का वर्चस्व रहा हो लेकिन अकादमिक और साहित्यिक हलके में मार्क्सवादियों का लगभग एकछत्र राज्य रहा है। प्रगतिवाद ने इस वर्चस्व को स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। दिनकर के साथ अपने आरंभिक लगाव-दुराव के बाद अंततः मार्क्सवादियों को दिनकर की गर्जन-तर्जन वाली कविताएं अपने काम की लगने लगीं और तब अपने विचारधारात्मक पूर्वाग्रहों के अनुसार उन्होंने दिनकर को गांधीवाद से मुक्त दिखाने की पूरी कोशिश की लेकिन इसमें सारा दोष आलोचकों का नहीं है, दिनकर का साहित्य भी इस उलझन के लिए उतना ही जिम्मेदार है। समस्या गांधी और मार्क्स से एक साथ प्रभावित होने में नहीं है, समस्या बार-बार उन्हें एक दूसरे के आमने-सामने खड़ा कर एक को स्वीकार करने और दूसरे को खारिज करने या उन्हें छोटा-बड़ा बताने से पैदा होती है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि अपनी परवर्ती कविताओं में दिनकर ने दोनों का समन्वय करने की ही कोशिश की है, लेकिन इस समन्वय में भी प्रायः गांधी को मार्क्स पर वरीयता मिली है। अपने एक निबंध 'गांधी से मार्क्स की परिष्कृति' में समाजवाद के प्रसंग में

गांधी और मार्क्स के उद्देश्यों को एक बताने के बाद दिनकर दो वजहों से गांधी को उसके आगे की कड़ी बताते हैं। पहली वजह है, मनुष्य के भौतिक समृद्धि के साथ-साथ उसकी आत्मिक समृद्धि पर भी गांधी का जोर और दूसरी वजह है, अहिंसा के लिए उनकी प्रतिबद्धता।[55] असल में यही दो वजहें हैं, जिनके लिए बार-बार गांधी और मार्क्स का नाम लिया जाता है। इनमें भी अपनी रचनात्मक गतिविधियों में दिनकर ने हिंसा-अहिंसा के सवाल को ही ज्यादा प्रमुखता दी है। अगर इस सवाल को सुलझा लें कि दिनकर इन दोनों में से किसके पक्षधर थे, तो हम गांधी और मार्क्स के बीच किसी एक को चुनने की व्यर्थ राजनीति प्रेरित बहस से बच जाएंगे। लेकिन दिनकर के काव्य में हिंसा और अहिंसा का प्रश्न मार्क्स बनाम गांधी के प्रश्न से कम पेचीदा नहीं है। दिनकर के साहित्य में दोनों के ही पक्ष में काफी प्रभावशाली कविताएं लिखी गई हैं और किसी एक कविता को प्रामाणिक और दूसरी को अप्रामाणिक (जब तक कि लेखक ने खुद ही उसे खारिज न कर दिया हो) ठहरा देना साहित्यिक आलोचना की दृष्टि से तार्किक नहीं कहा जाएगा।

चूंकि दिनकर ने दोनों तरह की कविताओं में से किसी को भी गलत नहीं ठहराया है, इसलिए इस प्रश्न के समाधान का पहला तरीका तो यह हो सकता है कि हम दोनों तरह की कविताओं की मात्रात्मक और गुणात्मक तुलना करके इस प्रश्न का उत्तर निर्धारित करें। अगर काव्य नायकों की दृष्टि से देखें तो जहां बुद्ध, अशोक, युधिष्ठिर और ईसा मसीह से लेकर समकालीन यतींद्रनाथ और गांधी जैसे पात्र अहिंसक कविताओं के नायक हैं, तो कृष्ण, भीष्म, कर्ण और परशुराम; चंद्रगुप्त, राणा प्रताप और शिवाजी से लेकर भगतसिंह, अशफाक उल्ला इत्यादि हिंसा का समर्थन करने वाली कविताओं के नायक के तौर पर आए हैं। हिंसा का समर्थन करने वाले नायकों की संख्या न केवल अधिक है, बल्कि दिनकर के ज्यादातर प्रभावशाली नायक भी इसी वर्ग से आए हैं। यह सरसरी तुलना स्पष्ट रूप में सिर्फ यह बताती है दिनकर की कविताओं में दोनों ही रूप मौजूद हैं।

कुछ भिन्न किस्म की तुलना अपेक्षाकृत ज्यादा स्पष्ट निष्कर्ष पर पहुंचाती है। पहली, यह कि सिर्फ दो पुस्तकों 'कुरुक्षेत्र' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' में स्पष्ट रुप से हिंसा का समर्थन किया गया है। उसे जरूरी, यहां तक कि श्रेयस्कर बताया गया है। अन्य किसी भी कृति में हिंसा का खुला समर्थन नहीं है। जबकि गर्जन-तर्जन वाली कविताओं के बावजूद

अहिंसा का समर्थन बहुत सी कविताओं में है। दूसरी, यह कि आजादी के बाद केवल चीन-आक्रमण ही वह एकमात्र मौका है जहां दिनकर ने खुलकर हिंसा को सही ठहराया है, लेकिन अगर मात्रात्मक दृष्टि से देखें तो गर्जन-तर्जन वाली कविताओं की संख्या सबसे अधिक है, शांति का समर्थन करने वाली कविताओं की उससे कम और खुलेआम हिंसा का समर्थन करने वाली कविताएं सबसे कम मात्रा में है। सवाल यह है कि गर्जन-तर्जन के बावजूद अधिकांश कविताओं में दिनकर खुलकर हिंसा का पक्ष क्यों नहीं लेते?

जिस बात पर विद्वानों ने ध्यान नहीं दिया है वह यह कि हिंसा को लेकर दिनकर के मन में चाहे कोई उलझन हो या न हो, लेकिन युद्ध के मुहावरे को लेकर उनके मन में कोई भी उलझन नहीं है। युद्ध का मुहावरा उनका प्रिय मुहावरा है, शौर्य और वीरता उनके प्रिय गुण हैं और गर्जन-तर्जन हिंसा के समर्थन का प्रमाण नहीं, बल्कि उनकी स्थायी शैली है। वह शांति की बात भी युद्ध के मुहावरे में करते हैं। यह चीज उनके काव्य के एकदम आरंभ से उनके साथ लगी चली आई है। इसका प्रमाण 'विजय संदेश' में संकलित कविता 'बारदोली वंदना' है। बारदोली का किसान सत्याग्रह अहिंसक आंदोलन था जिसने ब्रिटिश प्रशासन को झुकने पर मजबूर कर दिया था। इस अहिंसक आंदोलन को दिनकर युद्ध के मुहावरे में ढाल देते हैं। अत्यंत तत्सम प्रधान समास शैली में लिखी गई यह कविता अंतिम दो पंक्तियों में अचानक बदल कर बोलचाल की भाषा के निकट आ जाती है। 'मस्तक उठा देश का सच्ची समर-कला दिखलाई है/ वीर वारदोली वालों की गाओ बधाई है।'[56] अगर किसी को बारदोली आंदोलन की पृष्ठभूमि का पता न हो तो निश्चित रुप से वह इसे किसी युद्ध काव्य का ही अंश समझेगा। युद्ध शैली के उदाहरण दिनकर साहित्य में बहुतायत से भरे पड़े हैं, लेकिन हम सिर्फ एक उदाहरण देंगे

क्या हार-जीत खोजे कोई/ उस अद्‌भुत पुरुष अहंता की
हो जिसकी संगर-भूमि बिछी/ गोदी में जगन्नियंता की।
संगर की अद्‌भुत भूमि, जहां/ पड़ने वाला प्रत्येक कदम-
है विजय; पराजय भी जिसकी/ होती न प्रार्थनाओं से कम।
संगर की अद्‌भुत भूमि, नहीं/ कुछ दाह, न कोई कोलाहल;
चल रहा समर सबसे महान/ पर, कहीं नहीं कुछ भी हलचल।[57]

उक्त पंक्तियां गांधी की तारीफ में लिखी गई 'बापू' शीर्षक कविता की हैं। यह हैरानी की बात है कि विषयवस्तु के साथ शैली की इस असंगति पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। इस समस्या की ओर एकमात्र संकेत मुक्तिबोध ने किया। 'उर्वशी' की समीक्षा करते हुए मुक्तिबोध को उर्वशी और पुरुरवा के अंतरंग संवाद बड़े कृत्रिम और आडंबरपूर्ण लगे। किंचित उपहास के भाव से उन्होंने कहा ''मानो उर्वशी और पुरुरवा के रति-कक्ष में भोंपू लगे हों, जो शहर और बाजार में रति-कक्ष के आडम्बरपूर्ण कामात्मक संलाप का प्रसारण-विस्तारण कर रहे हों।''[58] हालांकि मुक्तिबोध भी इस बात को नहीं समझ पाए कि यह आडंबर नहीं दिनकर की प्रिय शैली है। बहरहाल, अगर आप प्रेमालाप के दौरान पुरुरवा की 'ऊर्वशी अपने समय का सूर्य हूं मैं' सरीखी वीरतापूर्ण गर्वोक्तियो को याद करें, तो यह समझना मुश्किल नहीं रहेगा कि दिनकर के काव्य में गर्जन-तर्जन का अनिवार्य संबंध हिंसा के समर्थन से नहीं है।

लेकिन गर्जन-तर्जन की यह शैली सिर्फ एक काव्यात्मक उपकरण है या कि इसका दिनकर के स्वभाव उनकी सोच और रुचियों से कोई गंभीर रिश्ता है? जो बात दावे से कही जा सकती है वह यह कि दिनकर को प्रवृत्ति मार्ग ही प्रिय है। इसी तरह उनकी आस्था बुद्धि में कम, हृदय में अधिक है। इस आशय की बहुतेरी पंक्तियां दिनकर के काव्य में मिल जाएंगी जिनमें कर्म अथवा भावना की तुलना में बुद्धि की निंदा की गई है। बल्कि दिनकर उस काव्य को प्रशंसनीय मानते हैं जो बल को बुद्धि के बस में न रहने दे। अपने कवि रूप की प्रशंसा करते हुए उन्होंने लिखा है 'दौड़ा देता हूं तरल आग नस-नस में/ रहने देता बल को न बुद्धि के बस में।'[59] उपरोक्त सभी स्थितियां इसी बात का संकेत करती हैं कि दिनकर का झुकाव स्वाभाविक रूप से वीरता और शौर्य की ओर था इसीलिए हिंसा उनके लिए कोई अनैतिक या अस्वीकार्य चीज नहीं थी। कम से कम एक अवसर ऐसा आया है जब दिनकर ने हिंसा के प्रति अपने झुकाव को बताते हुए खुद स्वीकार किया है कि "हिंसा से मुझे बहुत घृणा कभी नहीं रही।''[60] लेकिन जाहिर है एक ओर अंग्रेजी शासन के दौरान हिंसा का खुलकर समर्थन करना जानबूझकर विपत्ति मोल लेने की तरह था, तो वहीं दूसरी ओर गांधी के व्यापक प्रभाव के कारण हिंसा का समर्थन करना आंदोलनकारी जनता के बीच खुद को अलोकप्रिय बना लेना हो सकता था। संभवत इसीलिए आजादी से पहले लिखी राष्ट्रीय भावनाओं से संबंधित कविताओं में भी दिनकर ने खुलकर हिंसा का पक्ष लेने में संकोच किया फिर भी राष्ट्रीय

आंदोलन की अंतिम घड़ी में 'कुरुक्षेत्र' लिखते समय वह पाप और पुण्य के बारे में एक स्पष्ट निष्कर्ष पर पहुंच चुके थे। हिंसा के पक्ष में उन्होंने एक ऐसा अकाट्य तर्क विकसित कर लिया था, जिसका कोई जवाब न तब था और न अब तक है।

छीनता हो स्वत्व कोई और तूं
त्याग तप से काम ले यह पाप है
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।[61]

अगर हिंसा की ओर दिनकर का स्वाभाविक झुकाव था और वह नैतिक लगने लगी थी, अगर उन्होंने उस के पक्ष में अकाट्य तर्क विकसित कर लिया था तो फिर गांधी के आगे झुकने की क्या वजह थी? आजादी के बाद खासकर गांधी के गुजर जाने के बाद निरंतर अहिंसा का पक्ष लेते रहने की क्या वजह थी? दिनकर ने जिस तरह गांधी की प्रशंसा की है, इससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि दिनकर को गांधी के तर्क ने नहीं उनके तप ने झुकाया था, वह प्रेम की अपराजेयता के प्रति गांधी की दृढ़ निष्ठा के आगे परास्त हो गए थे और उनके प्रति जनता का विश्वास और उसकी श्रद्धा दिनकर को उन भावनाओं का सम्मान करने को मजबूर करती थी। यह एक नैतिक दबाव था, दिनकर का स्वैच्छिक चयन नहीं था। यह अपनी स्वाभाविक रूचि के खिलाफ जाना था, ठीक इसीलिए दिनकर के काव्य में अंतर्विरोध दिखने लगते हैं।

लेकिन सवाल फिर भी बच रहता है अगर दिनकर ने गांधी के तप के आगे समर्पण कर दिया था, तो चीन-आक्रमण के समय पुनः हिंसा का समर्थन करने वाली कविताएं उन्होंने कैसे लिखीं? क्या वह एक भावनात्मक बहाव था? अगर ऐसा होता तो दिनकर कहीं ना कहीं उसका खंडन जरूर करते जबकि इसके उलट बाद में दिनकर ने आपद्धर्म कहकर उसका औचित्य निरूपण ही किया। गांधी और नेहरू दोनों अहिंसा के पक्षधर थे। इस प्रसंग में दोनों की तुलना करते हुए दिनकर ने उनके बीच एक अत्यंत महत्वपूर्ण फर्क नोट किया है ''गांधीजी अहिंसा को धर्म समझते थे किंतु जवाहरलालजी ने अहिंसा को धर्म कभी भी नहीं माना। वह उसे नीति मानते थे क्योंकि जवाहरलाल गांधीजी के अनुयाई थे इसलिए अहिंसा का पालन वह भी करते थे। किंतु अहिंसा के समर्थन में गांधीजी जो दलीलें देते थे वह दलीलें पंडितजी की

समझ में नहीं आती थीं।''[62] सवाल उठता है कि अहिंसा दिनकर के लिए धर्म थी अथवा नीति? अगर अहिंसा दिनकर के लिए धर्म या नीति में से कुछ भी होती तो वह 'परशुराम की प्रतीक्षा' में हिंसा का इतना जोरदार समर्थन कभी नहीं कर सकते थे।

इस प्रसंग में दिनकर की अपनी एक नीति थी जिसकी ओर विद्वानों का ध्यान नहीं गया है। अपनी रचना यात्रा के एकदम शुरू से लेकर आखिर तक दिनकर उस नीति पर बने रहे। उनके तमाम अंतर्विरोधी फैसले उसी एक नीति का स्वाभाविक परिणाम हैं। वह नीति है 'शठे शाठ्यम समाचरेत' या जैसे को तैसा। इस नीति की अभिव्यक्ति 'विजय संदेश' में हुई,[63] 'हुंकार' में हुई,[64] 'कुरुक्षेत्र' में हुई,[65] 'मगध महिमा' में हुई[66] और उनके अंतिम दौर की रचनाओं में से एक 'कोयला और कवित्व' में भी हुई है।[67] 'विजय संदेश' की पहली ही कविता 'मातृ वंदना' में दिनकर ने लिखा है 'जय सदय-हिय जगत-पालनि/ बलवती जय वैरि-घालनि/ शक्ति-सह जय शठहिं-शूलनि।'[68] और 'हुंकार' में गांधीवाद सिखाए जाने का प्रतिवाद करते हुए उन्होंने कहा कि हम मनुष्य हैं, नरता-मानवता और पौरूष से बढ़कर देवताओं के पास है कौन से श्रेष्ठ गुण हैं? जो हम उनसे सीखें? प्राकृतिक तथ्य का हवाला देते हुए उन्होंने मानव स्वभाव की तुलना पानी से की 'जहां वक्र है धरा, कुटिल गति जल की/ जहां पंथ ऋजु, जल सीधा बहता है/ मानव का जीवन प्रवाह निर्झर का/ द्विधा-रुद्ध हो तजता नहीं प्रगति को।[69] दिनकर की इस नीति की सबसे स्पष्ट बेलाग और विश्वसनीय अभिव्यक्ति 'कोयला और कवित्व' की 'दिनचर्या' शीर्षक आत्मकथात्मक कविता में हुई है। केवल कुछ ही पंक्तियों के भीतर मार्क्सवाद-गांधीवाद, हिंसा और अहिंसा इन सब के बारे में अपना वरीयता क्रम दिनकर ने स्पष्ट कर दिया है

> अच्छे लगते मार्क्स, प्रेम है अधिक, किंतु गांधी से
> प्रिय है शीतल पवन, प्रेरणा लेता हूं आंधी से
> नहीं चाहता युद्ध, लड़ाई, लेकिन, अगर ठनेगी
> किसी तरह भी शांतिवाद से मेरी नहीं बनेगी।[70]

इसके ठीक आगे दिनकर ने जो कुछ कहा है उसे भी जरूर पढ़ा जाना चाहिए अन्यथा दिनकर की रचना में दिखने वाले अंतर्विरोधों को समझ पाना हमेशा असंभव बना रहेगा। दिनकर ने स्पष्ट लिखा कि परस्पर विरोधी शक्तियों के लिए उनके मन में जगह है। हर देश और काल

के लिए एक ही बात लागू नहीं हो सकती, अतः उनकी दृष्टि में कौन सा सत्य उपयुक्त है, इसकी निर्णायक परिस्थितियां हैं। सत्य को किसी वक्तव्य से उच्चतर चीज बताते हुए उसकी रक्षा के लिए उन्होंने अपनी ही बात का खंडन करने के अधिकार को एक लोकतांत्रिक मूल्य - स्वतंत्रता - का सार बताया है

एक नहीं, दोनों ध्रुव मेरे भीतर धंसे हुए हैं
सभी सत्य अपने-अपने शिखरों पर बसे हुए हैं
इसीलिए, चलदल-समान रह-रह डोला करता हूं
जब होता हूं जहां, उसी ध्रुव से बोला करता हूं
अलम नहीं, बस, आंख मूंद अपने मत का मंडन ही
कभी-कभी चाहिए सत्य के लिए आत्म-खंडन भी
'इसीलिए, मैंने स्वतंत्रता-सार बचा रखा है
अपनी बात काटने का अधिकार बचा रखा है।[71]

इतनी स्पष्ट निर्द्वंद्व और निर्भ्रांत घोषणा के बाद शायद ही कुछ कहना बाकी रह जाता है। जो लोग किसी भी बने-बनाए खांचे में दिनकर को कस देना चाहते हैं उनके लिए दिनकर कि यह घोषणा निश्चित रूप से बहुत असुविधाजनक होगी। यह घोषणा उनके लिए भी असुविधाजनक होगी जो किसी कवि की रचनाओं में एक सैद्धांतिक निरंतरता देखना चाहते हैं। लेकिन शायद फिर से दोहराना उपयोगी हो कि दिनकर का काव्य दुनिया की उथल-पुथल से दूर गुफाओं-कंदराओं में अंतिम सत्य की तलाश करने वालों का ब्रह्म ज्ञान नहीं है और न ही वह कल्पना की ऐसी वायवीय उड़ान है जिसका जमीनी हकीकत से कोई वास्ता ही नहीं। दिनकर की कविता जनसंघर्षों के साथ जुड़कर अपना रास्ता तलाशती हुई कविता है। उसकी पहली प्रतिबद्धता अपने देश की जनता के साथ है और इसीलिए उसके अंदर वैविध्य है, अंतर्विरोध है और साथ में व्यवहारिकता भी है।

गांधी के नैतिक दबाव के अलावा एक और चीज थी जिसने आजादी के बाद दिनकर को अहिंसा की ओर झुकने के लिए विवश किया, यह चीज थी लोकतंत्र। लोकतंत्र अपने नागरिकों को स्वतंत्रता समानता और बंधुत्व प्रदान करने की गारंटी करता है और यह गारंटी हिंसा के होते हुए कभी पूरी नहीं की जा सकती। दिनकर इस बात से बहुत अच्छी तरह वाकिफ थे। अपने जीवन के अंतिम वर्षों में लिखे गए लेख 'लोकतंत्र कुछ विचार' में दिनकर

ने लिखा है ''अहिंसा लोकतंत्र का मूलाधार है, जिसमें उत्तराधिकार का सवाल गोली नहीं, मत-पेटी से तय होता है। केवल इतना ही नहीं, सफल लोकतंत्र की सारी मुद्रा अहिंसा की मुद्रा होती है। सलाह-मशविरे और विचार-विनिमय की मुद्रा होती है। भीतर जो असंतोष है, उसे बहस के जरिए निकाल दो, जिससे तलवार पर जाने की विवशता न उत्पन्न हो।''[72] ये बातें दिनकर तब लिख रहे थे जब लोकतंत्र नया नवेला नहीं रह गया था, उसके अंदर की बहुत सी विकृतियां खुद दिनकर को बेचैन कर रही थीं; फिर भी लोकतंत्र के स्वप्न पर दिनकर का विश्वास अडिग था। जो लोकतंत्र दिनकर के सामने था, वह कोई आदर्श नहीं बल्कि 'सड़ा-गला लोकतंत्र' था, लेकिन फिर भी दिनकर को यह चिंता थी कि ''अपनी सड़ी-गली जमहूरियत को हम जुगाकर रख सकें, तो देर-अबेर उसी से हमारा उद्धार होगा।''[73]

आजादी के बाद दिनकर की कविताओं में से हिंसा की अनुपस्थिति दिनकर के स्वाभाविक रुझान की हार का नहीं बल्कि लोकतांत्रिक मूल्यों की जीत का प्रमाण है।

संदर्भ

[1] कार्ल एल.बेकर, आधुनिक लोकतंत्र (अनुवादक : ओम प्रकाश दीपक), नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृष्ठ 6,

[2] आजादी नहीं चुनौती है, यह बीड़ा कौन उठाएगा?/ खुल गया द्वार पर कौन देश को मंजिल तक पहुंचाएगा?' रामधारी सिंह दिनकर, नीम के पत्ते, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1999, पृष्ठ 12

[3] वही, पृष्ठ 5

[4] वही, पृष्ठ 30

[5] रामधारी सिंह दिनकर, नील कुसुम, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010, पृष्ठ 72

[6] रामधारी सिंह दिनकर, नीम के पत्ते, पूर्वोक्त, पृष्ठ 4

[7] वही, पृष्ठ 3

[8] वही, पृष्ठ 3

[9] वही, पृष्ठ 4-5

[10] क्षत्रिय है, यह राजपुत्र है, यों ही नहीं लड़ेगा/ जिस-तिस से हाथापाई में कैसे कूद पड़ेगा?/ अर्जुन से लड़ना हो तो मत गहो सभा में मौन/ नाम-धाम कुछ कहो, बताओं कि तुम जाति हो कौन?' रामधारी सिंह दिनकर, रश्मिरथी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृष्ठ 11

[11] नीम के पत्ते, पूर्वोक्त, पृष्ठ 1

[12] वही, पृष्ठ 13

[13] नील कुसुम, पृष्ठ 73-74

[14] नीम के पत्ते, पूर्वोक्त, पृष्ठ 4

[15] नील कुसुम, पूर्वोक्त, पृष्ठ 81

[16] वही, पृष्ठ 86

[17] रामधारी सिंह दिनकर, मृत्ति तिलक, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1987, पृष्ठ 25-26

[18] रामधारी सिंह दिनकर, अर्द्धनारीश्वर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1989, पृष्ठ 86

[19] रामधारी सिंह दिनकर, नील कुसुम, पूर्वोक्त, पृष्ठ

[20] नीम के पत्ते, पूर्वोक्त, पृष्ठ 2 तथा 4

[21] रामधारी सिंह दिनकर, कोयला और कवित्व, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1987, पृष्ठ 79

[22] डा. दुर्गा दास बसु, भारत का संविधान : एक परिचय, लेक्सिस नेक्सिस बटरवर्थ्स, नागपुर, 2010, पृष्ठ 25

[23] कोयला और कवित्व, पूर्वोक्त, पृष्ठ 80-81

[24] रामधारी सिंह दिनकर, हारे को हरिनाम, मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, 1998, पृष्ठ 128

[25] रामधारी सिंह दिनकर, चिंतन के आयाम, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, 194

[26] रामधारी सिंह दिनकर, नीम के पत्ते, पूर्वोक्त, 16

[27] रामधारी सिंह दिनकर, नील कुसुम, पूर्वोक्त, 109

[28] वही, पृष्ठ 111

[29] रामधारी सिंह दिनकर, दिल्ली, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2003, पृष्ठ 23

[30] रामधारी सिंह दिनकर, नीम के पत्ते, पूर्वोक्त, पृष्ठ 15

[31] रामधारी सिंह दिनकर, मृत्ति तिलक, पूर्वोक्त, पृष्ठ 25-26

[32] रामधारी सिंह दिनकर, चिंतन के आयाम, पूर्वोक्त, पृष्ठ 195-196

[33] वही, पृष्ठ 203

[34] रामधारी सिंह दिनकर, कोयला और कवित्व, पूर्वोक्त, 47

[35] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005, पृष्ठ 58-59

[36] रामधारी सिंह दिनकर, दिल्ली, पूर्वोक्त, पृष्ठ 13
[37] रामधारी सिंह दिनकर, परशुराम की प्रतीक्षा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृष्ठ 16
[38] रामधारी सिंह दिनकर, सामधेनी, अनुपम प्रकाशन, पटना, 2005, पृष्ठ 31
[39] रामधारी सिंह दिनकर, नीम के पत्ते, पूर्वोक्त, पृष्ठ 12
[40] रामधारी सिंह दिनकर, नील कुसुम, पूर्वोक्त, पृष्ठ 112
[41] रामधारी सिंह दिनकर, चिंतन के आयाम, पूर्वोक्त, पृष्ठ 71-72
[42] रामधारी सिंह दिनकर, रश्मिरथी पूर्वोक्त, पृष्ठ 72
[43] वही, पृष्ठ 57
[44] रामधारी सिंह दिनकर, नीम के पत्ते, पूर्वोक्त, पृष्ठ 3
[45] रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, लोकभारती, इलाहाबाद, 2006, पृष्ठ 67
[46] देखें, धूपछाहीं दिनकर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2008
[47] वही, पृष्ठ 15
[48] मन्मथ नाथ गुप्त, दिनकर, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 1993, पृष्ठ 41
[49] सावित्री सिन्हा, युगचारण दिनकर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1963, पृष्ठ 298-99
[50] वही, पृष्ठ 301
[51] नील कुसुम, पूर्वोक्त, पृष्ठ 112-113
[52] वही, पृष्ठ 102
[53] कोयला और कवित्व, पूर्वोक्त, पृष्ठ 80
[54] रामधारी सिंह दिनकर, संचयिता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ 19
[55] रामधारी सिंह दिनकर, चिंतन के आयाम, पूर्वोक्त, पृष्ठ 61
[56] संपादक कुमार विमल, रामधारी सिंह दिनकर रचना संचयन, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ 51
[57] रामधारी सिंह दिनकर, बापू, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2001, पृष्ठ 9
[58] संपादक नेमिचंद्र जैन, मुक्तिबोध रचनावली (खंड 5), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृष्ठ 468
[59] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, पूर्वोक्त, पृष्ठ 31
[60] रामधारी सिंह दिनकर, दिनकर की डायरी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृष्ठ 77
[61] रामधारी सिंह दिनकर, कुरुक्षेत्र, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 2007, पृष्ठ 16
[62] रामधारी सिंह दिनकर, लोकदेव नेहरू नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1989, पृष्ठ 55
[63] कुमार विमल (संपादक), रामधारी सिंह दिनकर रचना संचयन, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ 49
[64] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, पूर्वोक्त, पृष्ठ 82
[65] रामधारी सिंह दिनकर, कुरुक्षेत्र, पूर्वोक्त, पृष्ठ 16
[66] रामधारी सिंह दिनकर, इतिहास के आंसू, उदयाचल, पटना, 1955, पृष्ठ 19
[67] रामधारी सिंह दिनकर, कोयला और कवित्व, पूर्वोक्त, पृष्ठ 45-46
[68] कुमार विमल (संपादक), रामधारी सिंह दिनकर रचना संचयन, पूर्वोक्त, पृष्ठ 49
[69] रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, पूर्वोक्त, पृष्ठ 82
[70] रामधारी सिंह दिनकर, कोयला और कवित्व, पूर्वोक्त, पृष्ठ 45
[71] वही, पृष्ठ 45-46
[72] रामधारी सिंह दिनकर, चिंतन के आयाम, पूर्वोक्त, पृष्ठ 69-70
[73] रामधारी सिंह दिनकर, दिनकर की डायरी, पूर्वोक्त, पृष्ठ 79

उपसंहार

दिनकर हिंदी के सर्वाधिक महत्वपूर्ण और चर्चित कवियों में से एक हैं। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर शताधिक पुस्तकें लिखी जा चुकी है लेकिन कालजयी महान रचनाकारों का लेखन बहुआयामी होता है इसीलिए समय के साथ-साथ जहां एक और उनके लेखन के नए-नए आयाम उद्‌घाटित होते जाते हैं वहीं दूसरी ओर साहित्य में नई दृष्टियों के आविर्भाव के साथ-साथ उनका पुनर्मूल्यांकन भी अपरिहार्य हो जाता है। प्रस्तुत प्रबंध भी इसी प्रक्रिया का परिणाम है। दिनकर पर हुए अधिकांश अध्ययन उनके राष्ट्रवादी रूप के विभिन्न पहलुओं की विवेचना करते हैं; वहीं एक बड़ी संख्या ऐसे अध्ययनों की भी है जो उनके श्रृंगारिक रूप के कतिपय पक्षों को हमारे सामने लाते हैं, कुछ अन्य अध्ययन दिनकर के भाषा और शिल्प संबंधी प्रयोगों, तकनीकों और उपलब्धियों से हमें परिचित कराते हैं। सामाजिक न्याय और लोकतांत्रिक मूल्यों की दृष्टि से दिनकर का मूल्यांकन अपेक्षाकृत एक अनदेखा क्षेत्र रहा है। प्रस्तुत शोध प्रबंध दिनकर के काव्य के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और लोकतांत्रिक आयामों के विश्लेषण के जरिए इस अनदेखे क्षेत्र के कुछ पहलुओं को उद्‌घाटित करने का प्रयास करता है।

दिनकर के संबंधियों, मित्रों और प्रशंसकों ने उनके जीवन के बारे में पर्याप्त विस्तार से लिखा है। दिनकर के अधिकांश अध्येताओं ने उनके व्यक्तिगत जीवन से संबंधित तथ्यों का उल्लेख किया है। इन अध्येताओं ने दिनकर के काव्य के संबंध में प्रासंगिक राजनैतिक घटनाक्रम का भी पर्याप्त विस्तार से उल्लेख किया है। दिनकर का सामान्य पाठक भी इन व्यक्तिगत और राजनैतिक तथ्यों से पूर्व-परिचित होता है इसलिए दोहराव और विस्तार से बचते हुए मैंने दिनकर के युग और परिवेश की उस जटिलता को रेखांकित करने का प्रयास किया है, जिसने दिनकर के वैविध्यपूर्ण स्वरों को निर्मित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भारतीय नवजागरण, पौराणिक और सांस्कृतिक गाथाओं की विरासत और राष्ट्रीय आंदोलन दिनकर की प्रेरणा के स्थायी स्रोत रहे हैं। दिनकर इनसे न केवल आजीवन ऊर्जा ग्रहण करते रहे बल्कि इनकी मूल संवेदना दिनकर के संपूर्ण काव्य में परोक्ष रूप से अंतर्निहित रही है।

दिनकर के प्रसंग में यह बात कई विद्वानों ने नोट की है कि एक तरफ उनके काव्य में परंपरा के प्रति गहरा लगाव स्पष्ट दिखाई देता है तो वहीं दूसरी ओर अपने समय की मांग को भी उनकी कविता ने कभी अनसुना नहीं किया। यानी उनका काव्य एक तरह से परंपरा

और आधुनिकता के बीच सेतु का काम करता है। यह बात निर्द्वंद्व भाव से कही जा सकती है कि परंपरा के प्रति दिनकर का लगाव पुनरुत्थानवाद का उदाहरण बिल्कुल नहीं है इसके उलट उनका काव्य पुनरुत्थानवाद का प्रबल विरोध करता है। जहां एक और दिनकर परंपरा के जीवंत अंश का सर्जनात्मक उपयोग वर्तमान को प्रेरणा देने के लिए करते हैं, वहीं वर्तमान पर बोझ बन रही रूढ़ियों के विध्वंस का आह्वान भी उनकी कविता में अक्सर मिलता है। असल में दिनकर ने परंपरा का इस्तेमाल केवल काव्य को सुग्राह्य और प्रभावशाली बनाने के लिए नहीं किया है बल्कि उनकी रचनाओं में यह अंतर्दृष्टि मौजूद है कि हमारे वर्तमान को ग्रस्त करने वाली समस्याएं तात्कालिक नहीं है बल्कि वह परंपरा से चली आ रही हैं और उनके समाधान के लिए व्यापक सामाजिक बदलाव की आवश्यकता है। क्योंकि दिनकर ने प्रायः परंपरा के प्रगतिशील पहलुओं पर ही अपना ध्यान केंद्रित किया है नतीजतन उनके काव्य में परंपरा और आधुनिकता के बीच द्वंद उत्पन्न नहीं होता लेकिन कुछ अवसर ऐसे भी रहे हैं जहां पारंपरिक प्रतीकों के साथ-साथ सामंती मूल्य भी अनायास उनके काव्य में चले आए हैं लेकिन ऐसे अंश अपवाद स्वरुप ही हैं। कुल मिलाकर परंपरा ने उनके काव्य की संप्रेषणीयता और प्रभाव को गंभीर समृद्धि प्रदान की है।

जहां एक और 'व्यक्तिगत स्वतंत्रता' की धारणा के बिना लोकतंत्र का अस्तित्व संभव नहीं है, वहीं दूसरी ओर व्यक्तिगत स्वतंत्रता अनियंत्रित होने की स्थिति में समाज के लिए घातक हो सकती है। दिनकर व्यक्ति और समाज के बीच सहयोगपूर्ण रिश्तों के हिमायती हैं। हिंदी में 'व्यक्ति बनाम समाज' के नाम पर अक्सर होने वाली भ्रामक बहस को याद रखें तो दिनकर के काव्य में निहित अंतर्दृष्टि के महत्व का अनुमान लगाया जा सकता है। व्यक्ति और समाज के बीच अंतर्विरोध की स्थिति में जहां पारंपरिक लोग बिना किसी दुविधा के समाज का पक्ष लेने लगते हैं, वही कुछ विद्वानों ने व्यक्ति का जोरदार समर्थन किया है। दिनकर इनमें से किसी के भी पक्षपाती नहीं है। व्यक्ति यदि सामाजिक रूढ़ियों के खिलाफ खड़े होते हैं तो उनका यह कदम प्रगतशील होता है। दिनकर ऐसे व्यक्तियों के पक्ष में खड़े हैं। 'रश्मिरथी' में जातिवादी समाज के विरुद्ध कर्ण का नायकत्व इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। इसके विपरीत अपने निजी स्वार्थों के लिए समाज को नुकसान पहुंचाने वाले समाज विरोधी व्यक्तियों की भर्त्सना दिनकर के साहित्य में सर्वत्र देखने को मिलती है।

जाति प्रश्न के लिहाज से काव्य के क्षेत्र में दिनकर का वही महत्त्व है जो कथा साहित्य में प्रेमचंद का है। दिनकर ने 'रश्मिरथी' में न केवल एक तथाकथित दलित पात्र को नायकत्व प्रदान किया बल्कि उन्होंने कविता की साफ-सुथरी अभिजात दुनिया के भीतर जातिवाद के सवाल को बहुत आक्रामक ढंग से उठाया। लेकिन इस प्रयास की सीमाएं भी हैं। सीमा केवल यही नहीं है कि 'रश्मिरथी' का नायक कर्ण जनमना दलित नहीं है या उसकी मौखिक आलोचना जातिवाद का कोई समाधान प्रस्तुत नहीं करती बल्कि उसकी सबसे बड़ी सीमा जातिवाद की समस्या को कम करके देखने में है। जातिवादियों के विरुद्ध 'रश्मिरथी' की आक्रामकता जहां गांधीवाद की सीमाओं से उसके मुक्त होने का संकेत करती है वहीं किसी सुसंगत वैकल्पिक दृष्टिकोण का अभाव भी बहुत साफ दिखाई देता है। शायद यह दिनकर के युग की सीमा थी क्योंकि हिंदी में उनके समकालीन किसी अन्य लेखक के पास भी वैकल्पिक दृष्टिकोण मौजूद नहीं था।

स्त्री अधीनता का प्रश्न दिनकर के काव्य साहित्य का समस्याग्रस्त पहलू है। गरीबी की मार सहती या युद्ध की विभीषिका झेलती स्त्रियों की छवियां भी दिनकर के साहित्य में मौजूद हैं लेकिन उनकी संख्या बहुत कम है। प्रेयसी की छवि उनके काव्य में बड़ी मात्रा में आई है, छायावादी कल्पनाशीलता और सौंदर्यबोध इस छवि में प्रभावशाली ढंग से व्यक्त हुआ है। पुरुष की मधुप-वृत्ति और उपेक्षा सहती स्त्रियों के प्रति उन्होंने सहानुभूति प्रकट की है लेकिन विद्रोह का भाव अनुपस्थित है। ऐसे प्रसंगों में उन्होंने मैथिलीशरण गुप्त की परंपरा को ही विस्तार दिया है। स्त्री प्रश्न के संबंध में दिनकर के गद्य और पद्य साहित्य में बहुत गंभीर अंतर्विरोध मौजूद है, जहां उनका गद्य स्त्री स्वाधीनता के पक्ष में खड़ा है वही उनके काव्य में सामान्यतया पारंपरिक दृष्टिकोण का समर्थन देखने को मिलता है। बहरहाल, 'उर्वशी' और 'रश्मिरथी' समेत दिनकर के काव्य में कुछ ऐसे प्रसंग भी हैं जहां उन्होंने प्रेम और सेक्सुअलिटी से संबंधित कुछ ऐसे गंभीर सवाल खड़े किए हैं जिन्हें उठा सकना पारंपरिक नैतिकता के लिए कभी संभव नहीं था।

भारतीय समाज में मौजूद भयानक आर्थिक असमानता ने दिनकर को हमेशा बेचैन किया। उनकी कविताओं में सबसे प्रभावशाली और मार्मिक चित्र इस विषमता और तद्जनित गरीबी के ही हैं। 'हुंकार' तक की कविताओं में जहां उनके सामने भविष्य की कोई स्पष्ट

दिशा नहीं दिखती, वे इस विषमता के खात्मे के लिए प्रलय और विध्वंस तक का आह्वान करते हैं। 'कुरुक्षेत्र' पर मार्क्सवादी दर्शन का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है और संपत्ति के पुनर्वितरण (सुख-भाग) को ही वे (वर्ग) संघर्ष का स्थायी समाधान मानते हैं, इसके लिए वे हिंसा को श्रेयस्कर ठहराते हैं। स्वतंत्रता के कुछ ही वर्षों के बाद उनके स्वर में आक्रोश की मात्रा कम होने लगती है। वे हिंसक क्रांति का आह्वान करना बंद कर देते हैं। समानता पर उनका जोर बरकरार रहता है लेकिन हिंसक क्रांति की बजाय वे शांतिपूर्ण प्रयासों का समर्थन करने लगते हैं। प्रथम दृष्ट्या ऐसा लगता है कि सरकार का अंग बन जाने के कारण दिनकर का स्वर बदल गया। वह अपनी ही सरकार के खिलाफ विद्रोह का आह्वान नहीं कर सकते थे। इस बात की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता लेकिन अगर ऐसा हुआ हो तो भी वह छोटी वजह ही है। असल में आजादी के बाद लोकतंत्र के जरिए समाजवाद में शांतिपूर्ण संक्रमण की संभावना पर दिनकर का विश्वास उनके दृष्टिकोण में आए व्यापक बदलाव की मुख्य वजह था।

दिनकर के राष्ट्रवादी स्वर के प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि दिनकर के अध्येताओं ने दिनकर की जो राष्ट्रवादी या क्रांतिकारी योद्धा-सी छवि प्रस्तुत की है। उसका आधार मुख्यतः आजादी से पहले की उनकी रचनाएं हैं। 'परशुराम की प्रतीक्षा' के अलावा आजादी के बाद प्रकाशित उनका कोई संग्रह अपनी संपूर्णता में इस छवि का समर्थन नहीं करता। इसके उलट इस छवि का खंडन करने वाली प्रभावशाली रचनाएं उन्होंने लगातार लिखी हैं।

दिनकर के काव्य में राष्ट्रवादी भावनाएं दो भिन्न रूपों में प्रकट हुई है। पहला रूप उग्र राष्ट्रवाद का है। राष्ट्रहित के समक्ष संकट के अवसरों पर दिनकर के काव्य में इसी उग्र राष्ट्रवाद को अभिव्यक्ति मिली है। ऐसे अवसरों पर दिनकर न तो व्यक्तिगत स्वतंत्रता के पक्षधर नजर आते हैं और न ही शांतिवाद के। राष्ट्रहित के समक्ष तमाम अन्य मुद्दे उनके लिए अर्थहीन हो जाते हैं। ऐसे अवसरों पर वह संपूर्ण राष्ट्र से एकता की अपेक्षा करते हैं। हालांकि 'परशुराम की प्रतीक्षा' में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह भी कहा है कि जब तक राष्ट्र में समता नहीं होगी तब तक एकता कहां से आएगी? दूसरा रूप उदात्त राष्ट्रवाद का है। राष्ट्रवाद का यह रूप अत्यंत उदार है। राष्ट्र के सभी नागरिकों को जीवन की बुनियादी सुविधाओं के

साथ-साथ अधिकतम स्वतंत्रता उपलब्ध कराना इस राष्ट्रवाद का लक्ष्य है। इस राष्ट्रवाद का सबसे महत्वपूर्ण पहलू विश्वशांति की पक्षधरता है। यह अंतर्राष्ट्रीयतावाद का विरोधी नहीं बल्कि उसका पूरक नजर आता है।

हिंदी कविता में दिनकर संभवत पहले (या एकमात्र) ऐसे कवि हैं जिन्होंने राष्ट्रवाद की ऐतिहासिक भूमिका के साथ साथ उसकी समस्याओं को भी आजादी के आरंभिक वर्षों में ही पहचान लिया था। 'राष्ट्र देवता का विसर्जन' शीर्षक कविता में उन्होंने स्पष्ट रूप से यह कहा कि राष्ट्रवाद की प्रगतिशील भूमिका का समय बीत चुका है; अब अगर वह और जारी रहा तो गंभीर समस्याओं को जन्म देगा। यह विडंबना ही प्रतीत होती है कि इतनी स्पष्ट घोषणा के बावजूद चीन-आक्रमण के समय उग्र राष्ट्रवाद को फिर से अपनाने में उन्होंने कोई झिझक नहीं दिखाई। इस बात को रेखांकित करना भी जरूरी है कि सांस्कृतिक प्रतीकों का जमकर इस्तेमाल करने के बावजूद दिनकर की राष्ट्रीय भावनाओं का स्वर न केवल धर्मनिरपेक्ष है, बल्कि वह धार्मिक राष्ट्रवाद का प्रबल विरोधी भी रहा है।

पराधीन भारत में दिनकर समेत बहुत से लोग यह यकीन करते थे कि उपनिवेशवाद ही देश की दुर्दशा का सबसे मुख्य कारण है। संघर्षों के जरिए हासिल की गई आजादी के बाद जब देश में 'स्वराज' स्थापित हुआ तो उन्हें लगा कि लोकतंत्र के जरिए देश की सारी समस्याओं का समाधान कर लिया जाएगा। दिनकर की कल्पना का लोकतंत्र समाजवाद के उनके सपने के साथ एकाकार हो जाता था। लोकतंत्र उनकी दृष्टि में एक ऐसी आदर्श व्यवस्था थी जिसमें हर व्यक्ति को वास्तविक स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व और न्याय उपलब्ध कराना मुमकिन था। वह इस बात के लिए आश्वस्त थे कि लोकतंत्र में हिंसा के लिए कोई जगह नहीं हो सकती। यही वजह है कि आजादी के पहले कई अवसरों पर गांधीजी की तीखी आलोचना करने वाले दिनकर को आजादी (और गांधीजी की हत्या) के बाद उनकी प्रासंगिकता पर और अधिक यकीन होता गया।

दिनकर ने लोकतंत्र का जो सपना देखा था वह साकार नहीं हो सका इसके लिए संसदीय लोकतंत्र की प्रणाली के साथ-साथ पूरे तंत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार और पाखंड भी जिम्मेदार था। दिनकर ने लोकतंत्र के अपने सपनों को आधार बनाकर जहां एक और तत्कालीन यथार्थ की आलोचना की वहीं दूसरी ओर अपने कार्य के माध्यम से लोकतांत्रिक

मूल्यों को मूर्त रुप देने का प्रयास भी किया। हमारा समय दिनकर के समय से बहुत आगे बढ़ चुका है जाति और जेंडर जैसे सवालों को लेकर समकालीन साहित्य इतना सचेत हो चुका है कि तुलना में पुराने साहित्य की सीमाएं और संकीर्णताएं बहुत साफ दिखाई देने लगी हैं। यह सीमाएं दिनकर के साहित्य में भी दिखाई देती है लेकिन इसके साथ यह भी सच है कि दिनकर उन गिने-चुने लेखकों में से हैं जिनकी रचनाओं में सीमाओं के साथ-साथ मूल्यवान अंतर्दृष्टिया भी मौजूद हैं।

जहां एक ओर आजादी के बाद दिनकर ने अनेक अवसरों पर अपनी रचनाओं में राष्ट्रवाद की तीखी आलोचना की है, वही दूसरी ओर चीन आक्रमण के समय 'परशुराम की प्रतीक्षा' में स्वयं उग्र राष्ट्रवाद का समर्थन किया। केवल राष्ट्रवाद ही नहीं तमाम मुद्दों को लेकर दिनकर की कविताओं में परस्पर विरोधी बातें मिलती हैं। एक अवसर पर जिस बात का जोरदार समर्थन है दूसरे अवसर पर उसकी कड़ी निंदा उनकी रचनाओं में आसानी से मिल जाती है। विशेषकर हिंसा को लेकर उनके उनके रवैये में बार-बार बदलाव आया है। इन अंतर्विरोधों की वजह क्या है? उनकी परस्पर विरोधी बातों में से उनका वास्तविक सच किसे माना जाए? उनके बदलते हुए रवैये के बीच कोई पूर्वापर-संगति है अथवा वह सचमुच 'दिग्भ्रमित' थे जैसाकि कि कभी उनके एक आलोचक ने घोषणा की थी? दिनकर की अपनी प्रतिबद्धताएं बहुत निश्चित थीं। साधन और साध्य को लेकर वे बहुत निर्द्वंद्व थे। विचारधारा भी उनके लिए हिंसा की तरह ही साधन थी साध्य नहीं, देश की जनता का हित ही उनका साध्य था। इस हित के लिए जब जो मार्ग उन्हें उचित लगा उन्होंने सही या गलत समझे जाने की परवाह किए बगैर निःशंक भाव से उसका अनुसरण किया। विभिन्न दर्शनों और विचारधाराओं की अलग-अलग बातें उन्हें आकर्षित करती थीं, वे उनके श्रेष्ठतम तत्वों का समन्वय करना चाहते थे लेकिन वे समझौतावादी नहीं थे।

ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ

रामधारी सिंह दिनकर, इतिहास के आंसू, उदयाचल, पटना, 1955

रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, लोकभारती, इलाहाबाद, 2006

रामधारी सिंह दिनकर, कुरुक्षेत्र, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 2007

रामधारी सिंह दिनकर, कोयला और कवित्व, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1987

रामधारी सिंह दिनकर, चक्रवाल, अनुपम प्रकाशन, पटना, 2005

रामधारी सिंह दिनकर, दिल्ली, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2003

रामधारी सिंह दिनकर, नीम के पत्ते, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1999

रामधारी सिंह दिनकर, नील कुसुम, उदयाचल प्रकाशन, पटना, अगस्त 2001

रामधारी सिंह दिनकर, परशुराम की प्रतीक्षा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008

रामधारी सिंह दिनकर, प्रणभंग तथा अन्य कविताएं, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1997

रामधारी सिंह दिनकर, बापू, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2001

रामधारी सिंह दिनकर, मृत्ति तिलक, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1987

रामधारी सिंह दिनकर, रश्मिरथी, उदयाचल प्रकाशन, पटना, 2008

रामधारी सिंह दिनकर, रश्मिरथी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008

रामधारी सिंह दिनकर, रश्मिलोक, स्टार पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1974

रामधारी सिंह दिनकर, रसवंती, पुस्तक भंडार, लहेरियासराय, बिहार, 1940

रामधारी सिंह दिनकर, रेणुका, उदयाचल, पटना, 1979

रामधारी सिंह दिनकर, संचयिता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2008

रामधारी सिंह दिनकर, सपनों का धुंआ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008

रामधारी सिंह दिनकर, सामधेनी, अनुपम प्रकाशन, पटना, 2005

रामधारी सिंह दिनकर, हारे को हरिनाम, मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, 1998

रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005

संदर्भ ग्रंथ

अयोध्या सिंह, समाजवादः भारतीय जनता का संघर्ष, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 2007

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् 2058

आधुनिक भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, बिपन चंद्र, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2011

कन्हैयालाल फूलफगर (संपादक), दिनकर के पत्र, दिनकर शोध संस्थान, कलकत्ता, 1981

कन्हैयालाल फूलफगर (संपादक), शेष-निःशेष, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985

कार्ल एल.बेकर, आधुनिक लोकतंत्र (अनुः ओम प्रकाश दीपक), नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

कुमार विमल (सं.), रामधारी सिंह दिनकर रचना संचयन, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2008

गोपाल राय, सकलदेव शर्मा (सं.), राष्ट्रकवि दिनकर, ग्रंथ निकेतन, पटना, 1975

गोपाल राय, सत्यकाम (सं.), दिनकरः व्यक्तित्व और रचना के आयाम, सुहानी बुक्स, 2009

चन्द्रबली सिंह, लोकदृष्टि और हिन्दी साहित्य, पीपुल्स लिटरेसी, दिल्ली, 1986

जयसिंह नीरद, दिनकर के काव्य में परम्परा और आधुनिकता, अनुराधा प्रकाशन, मेरठ, 1984

जयसिंह 'नीरद', दिनकर व्यक्तित्व और सृजन, के.एल.पचौरी प्रकाशन, गाजियाबाद, 2002

दुर्गा दास बसु, भारत का संविधान : एक परिचय, लेक्सिस नेक्सिस बटरवर्थ्स, नागपुर, 2010

नेमिचंद्र जैन (सं.), मुक्तिबोध रचनावली (खंड 5), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007

पवन कुमार वर्मा, भारत के मध्य वर्ग की अजीब दास्तान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999

बिपन चंद्र, आधुनिक भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2011

मधुलिमये, भारतीय राजनीति के अन्तर्विरोध, सारांश प्रकाशन, 1996

मन्मथ नाथ गुप्त, अपने समय का सूर्य दिनकर, आलेख प्रकाशन, दिल्ली, 1981

मन्मथनाथ गुप्त, रामधारी सिंह दिनकर, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 1993

रजनी कोठारी, भारत में राजनीति : कल और आज, वाणी प्रकाशन, 2005

रजनी पाम दत्त, आज का भारत, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2004

रजनी पाम दत्त, भारतः वर्तमान और भावी, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली, 2000

रमारानी सिंह, दिनकर साहित्य में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति, अमित प्रकाशन, गजियाबाद, 1984

रामधारी सिंह दिनकर, अर्द्धनारीश्वर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1989

रामधारी सिंह दिनकर, चिंतन के आयाम, लोकभारती, इलाहाबाद, 2008
रामधारी सिंह दिनकर, दिनकर की डायरी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1987
रामधारी सिंह दिनकर, रेती के फूल, श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना, 1954
रामधारी सिंह दिनकर, लोकदेव नेहरू नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1989
रामधारी सिंह दिनकर, वेणुवन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1989
रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008
रामधारी सिंह दिनकर, हमारी सांस्कृतिक एकता, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1999
रामधारी सिंह दिनकर, पंत प्रसाद और मैथिलीशरण, लोकभारती, इलाहाबाद, 2009
रामाज्ञा राय शशिधर, संस्कृति का क्रांतिकारी पहलू, प्रतिबिम्ब प्रकाशन, सिमरिया, 2004
विजेन्द्र नारायण सिंह, रामधारी सिंह दिनकर, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2008
शम्भुनाथ, धूपछांही दिनकर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2008
शिवसागर मिश्र, दिनकरः एक सहज पुरूष, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1981
सावित्री सिन्हा (सं.), दिनकर, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1967
सावित्री सिन्हा, युगचारण दिनकर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1963
सुमित सरकार, आधुनिक भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1993
सुलक्षणा शर्मा, उर्वशी में कामाध्यात्म?, विनीत पब्लिशर्ज, नई दिल्ली, 1982